

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj.)**

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

७८

७८०००

॥ श्री ॥

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

‘रमा’ हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार

ज्ञा-बन्धु

१० रमाकान्त झा एम० ए०

व्याकरण-वेदान्ताचार्य,

प्रधानाचार्य

महर्षि सं० महाविद्यालय

रेवतीपुर, गान्धीपुर

पं० हरिहर झा एम० ए०

व्याकरण-साहित्याचार्य,

अध्यापक

सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

घोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० न० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

चतुर्थ संस्करण १९९०

मूल्य १५-००

धन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर सेन

पो० बा० न० ११२९, वाराणसी २२१००१

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ ए. ए. , जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० न० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

78

92074

UTKIRNALEKHAPAÑCAKA

(A COLLECTION OF FIVE PILLAR INSCRIPTIONS)

With the

'Rama' Hindi Commentary

By

JHA BANDHU

(Pt. Ramakanta Jha M. A.; Pt. Harihar Jha M. A.)



Raj Kumar



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building,
Post Box No 1069
V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1
Telephone : 63976

4th Edition
1989

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
V A R A N A S I 2 2 1 0 0 1
Telephone : 57214

★

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007
Telephone : 236391



जिनके विद्यामन्दिर

की

आधार-शिला

पर

बैठकर

कतिपय अभिलेख-कुसुमो

का

गुम्फन हो सका

सन्ही

पुष्पश्लोक महामना मालवीयजी

की

पावन स्मृति में

समर्पित

निवेदन

भारत की पुरातत्त्व-सामग्रियों में अभिलेखों का महत्त्व विचारणीय है। ये अभिलेख प्राचीन भारत के वास्तविक स्वरूप की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इनमें अधिकतर लेख विभिन्न विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पाठ्य विषय के रूप में निर्धारित हैं। एम० ए० में हम लोगों को भी कुछ अभिलेखों के अध्ययन का सौभाग्य मिला था। किन्तु उस समय निर्धारित अभिलेखा पर कोई पुस्तक बाजार में उपलब्ध नहीं थी, अतएव विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित श्री डी० सी० सरकार महोदय के मूल अभिलेख तथा श्री देसकालकर महोदय का अंग्रेजी अनुवाद ही हम लोगों के अध्ययन के एक मात्र अवलम्ब थे। व्यक्तिगत छात्रों के समक्ष तो यह समस्या खड़ी ही रही। उसी समय अपनी तथा अन्य छात्रों की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर हम लोगों ने कुछ अभिलेखों के स्वतन्त्र का निष्पन्न किया और चौखम्बा विद्यामवन के हिनेच्युक विद्वात् प० रामचन्द्र शास्त्री के माध्यम से वहाँ के अध्यक्ष महोदय के परामर्श के बाद इस कार्य में प्रवृत्त हुए। किन्तु बीच में ही अध्यक्ष महोदय के विशेष आग्रह से बादम्बरी (बुकनासोपदेस) का सम्पादन भार लेना पड़ा। अतः इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब अवश्य हो गया। आज इस 'अभिलेखसंग्रह' को छात्रों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हम लोग अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत 'ग्रन्थ' में अभिलेखों के हिन्दी अनुवाद के साथ ही ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्वों का सविस्तर विवेचन किया गया है। साथ ही ऐतिहासिक एवं भौगोलिक नामों पर सस्ति टिप्पणी भी दे दी गयी है। इस पुस्तक के सम्पादन में ऐतिहासिक विवेचन-प्रसंग में माननीय डा० रमाशंकर त्रिपाठी, श्री नरेन्द्र नाथ घोष तथा डा० रामदेव उपाध्याय की पुस्तकें, एवं साहित्यिक विवेचन प्रसंग में श्री देसकालकर महोदय की पुस्तक विशेष उपादेय सिद्ध हुई है। अतः हम उन महानुभावों के प्रति कृतज्ञ ही नहीं, ननमस्तक भी हैं। साथ ही जिन सहपाठियों के बलास-नोट्स भी सहायक हुए हैं, उनके प्रति भी हमारा प्रकट करना तो अपने को ही पक्षपात देना है। यदि यह ग्रन्थ छात्रों का कष्टहार बन सका तो अपने दृष्टान्त-ग्राम को हम लोग सफल मानेंगे। अस्तु,

विनीत—

—शा.पन्धु

विषय-सूची

निम्नेद्रन

१

प्रस्तावना

१-३५

१ अभिलेखों का महत्त्व

१

२. बाह्य गत भौगोलिक दृष्टि से

२

३ नगर चर्चा

३

४ सामा निर्देश

४

५ मार्ग निर्देश

५

६. यात्रा निर्देश

६

७ अभियान मार्ग

७

८ आन्तरिक पक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से

,

९ वंश-वृक्ष

९

१० शासन-अवस्था

१०

११. प्रजातन्त्र

११

१२ राजतन्त्र

१२

१३ राजकर

१३

१४. सामाजिक अलव

१४

१५ सामाजिक उत्सव तथा आवागमन

१७

१६. धार्मिक स्थिति तथा उसकी सहिष्णुता

१८

१७ आधिक स्वरूप

२०

१८. अभिलेखों में साहित्यचर्चा

२२

१९ शिक्षा-संस्था

२४

२० शिक्षा के विभिन्न विषय

२६

२१. अभिलेखों में प्रयुक्त भाषाएँ

२७

२२. विषयों तथा सब्

२८



२३. अमिल्लेख लिखने के आधार, स्थान तथा अवसर	३०
२४. अमिल्लेखों का वर्गीकरण	३१
ग्रन्थ	१-७१
(१) गिरनार (जुनाड) के खडगमन्त्र का प्रस्तुतअमिल्लेख	१
अमिल्लेख का ऐतिहासिक महत्त्व	५
अमिल्लेख की साहित्यिक विशेषताएँ	१३
टिप्पणी	१७
(२) महापाजवन्द का मंहरीलौलौहस्तम्भलेख	२१
अमिल्लेख का ऐतिहासिक महत्त्व	२२
अमिल्लेख का साहित्यिक महत्त्व	२६
टिप्पणी	२७
(३) कुमारगुप्त का मन्दसौर (दम्पुर) पिलालेख	२९
पिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व	३९
पिलालेख की साहित्यिक विशेषताएँ	४२
वर्णन में अन्य बतियों से समता	४५
टिप्पणी	४६
(४) महापाज यशोधर्मा का पिलालेख	४७
पिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व	५४
अमिल्लेख का साहित्यिक वैशिष्ट्य	५७
टिप्पणी	६०
(५) विजयराज : बीसलदेव का देहली-स्तम्भलेख	६२
स्तम्भलेख का ऐतिहासिक महत्त्व	६४
परिशिष्ट	
आराधनेय सन्तुष्टविश्वविद्यालय प्रकाशन	६९

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

करबदरसदृशमखिल भुवनतल यत्प्रसादत कवय ।
पश्यन्ति सूक्ष्ममतय सा जयति सरस्वती देवी ॥

प्रस्तावना

अभिलेखों का महत्त्व :—

प्राचीन भारतीय इतिहास-निर्माण में सहायक—

भारतवर्ष सभ्यता के प्राचीनतम एवं महान्तम देशों में अग्रगण्य है। ऋषियों का यह आदेश “एतद्देशप्रभूतमस्य सत्ताशादप्रजन्मनः। स्व स्व चरित्रं शिष्यैस्वृ पृथिन्ना सर्वमानवा。” के सम्मोह उद्घोष से विश्व के ज्ञानगुरु पद की अलङ्कृत करता था। इस पवित्र देवभूमि के उद्बुद्ध दार्शनिकों की ज्ञान-ज्योति से समस्त भूगोल का अज्ञान-निमिर हट जाता था। इन देश की पवित्रता और रमणीयता पर रीस कर देवता भी यहाँ अवतीर्ण होने की लालच उठते थे। इसके ही मंगलमय प्रभात में अन्य देशवासी अपनी अलसार्थी आँखों को खोलते थे। किन्तु सर्वप्रथम विश्व की मानवता का पाठ पढ़ाने वाला यह भारत एक दिन विश्व के क्रूर अट्टहास का लक्ष्य बना। सदियों तक भारत माँ के चरणों में विदेशी लौहगृखला खनमना उठी। जो कभी इसकी पदभूलि थे, वही धिर के ताज बन बैठे। बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से यह देश आधुनिक सभ्यकपित्त सभ्य देशों की पंक्ति में निकाल दिया गया और विश्व के समस्त इसे अनाथ देश के रूप में रखा गया। हमारे देश, समाज और संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य और इतिहास लूट लिया गया। उसकी जगह मनगढ़ूल पिछड़ेपन का सभ्यकपित्त इतिहास रच-रचा कर यहाँ की वास्तविक स्थिति पर परदा डाला गया। साथ ही पाश्चात्य मनोपियों ने यह प्रवाद भी फैलाया कि भारतवर्ष में वहाँ के जनजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने वाले इतिहास का सर्वथा अभाव है। अगर कहें कुछ है भी तो उसने विपियों तथा घटनाओं का ब्रह्मिक और प्रामाणिक उल्लेख नहीं है। किन्तु भी देश में राजनीतिक उपलब्ध-पुच्छ की कमबद्ध विपियों और घटनाओं के सूचीमात्र को ही इतिहास का सजा देने वाले आधुनिक ऐतिहासिक यह झूठ मने कि भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य विपियों और घटना-चक्रों का उल्लेख मात्र नहीं, किन्तु मानव-जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को महानुभयों के जीवन में घटाते हुए राष्ट्र के सांस्कृतिक अम्बुदय में अमूर्त योगदान

देना भी था। हमारे यहाँ इस उद्देश्य के प्रतिस्वरूप पुराण, रामायण व महाभारत सच्चे इतिहास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सभी दिन एक से नहीं होते। उत्थान और पतन तो विश्व का अनिवार्य क्रम है। बहुत दिनों तक परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी मानवता जब चीख उठी तो सपूतों का माया छनका और ज्वा की पहली विरप के साथ ही हमें उद्बोधन मिला। ईश्वरीय अनुकम्पा तथा राष्ट्रपिता के अहिंसा-व्रत ने विजयपतायाँ फहरायी।

स्वतन्त्र भारत में परतन्त्रकालीन मिथ्याचारों का खण्डन आवश्यक प्रतीत हुआ और अपनी भूली सांस्कृतिक-परम्परा का अन्वेषण तथा मूल्यांकन होने लगा। इसी प्रसंग में विदेशियों द्वारा रचित इतिहास का पर्दाफाश कर सच्चे राष्ट्रीय इतिहास-निर्माण की योजना बनी और उस महानतम कार्य की सफलता प्राप्ति के साधनों में इन अभिलेखों ने अपना महत्वपूर्ण अभिनय प्रस्तुत किया। सदियों से मूक अभिलेखों ने अपना हृदय खोल दिया और तब पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने इस अखण्ड-निधि से अपने इतिहास की सजाने का भगीरथ प्रयास किया। सामान्यतः इतिहास-निर्माण में जिन तत्त्वों की उपादेयता होती है, उनकी उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में होने लगी।

विचार करने पर स्पष्ट रूप से इतिहास के दो पक्ष हैं—बाह्य और आन्तरिक। इतिहास के बाह्य पक्ष से हमारा तात्पर्य किसी देश विशेष की भौगोलिक स्थिति से है और आन्तरिक पक्ष से राजव्यवस्था, शासन-प्रबन्ध, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक स्थिति से। अब देखना यह है कि इतिहास के उपर्युक्त दोनों पक्षों की सामग्री जुटाने में अभिलेखों ने कहाँ तक सहायता की है? इसी दृष्टिकोण को आधार मानकर हम उनके महत्व का विवेचन करेंगे।

बाह्य पक्ष :—

भौगोलिक दृष्टि से :—

इतिहास-निर्माण में अपेक्षित प्राचीन भारत का भूगोल जानने के लिए पुराने अभिलेखों से पर्याप्त सहायता मिलती है। विभिन्न राजवंशीय अभिलेखों में निर्दिष्ट नगर, सीमा, मार्ग तथा विजय-यात्रा की चर्चा से भौगोलिक वातावरण की झंकी मिल जाती है। साहित्यिक एवं यात्रा सम्बन्धी ग्रन्थों से भारत के प्राचीन भूगोल का जो स्वरूप दृष्टिकोण होता है, अभिलेखों के माध्यम से उसका

समीकरण तथा वास्तविक स्थिति को एक निश्चित रेखा खिंच जाती है। अभिलेखों का उपलब्धि-स्थान उस राज्य की सीमा का निर्देश करता है। भारतीय सम्राटों के विजय-प्रयाग का मार्ग प्राचीन-कालीन यातायात तथा व्यापारिक पथ विशेष का परिचय देता है। तीर्थ-यात्रा या दान के प्रसंग में किसी शासक द्वारा भ्रमण किये गये स्थान तथा दान की चर्चा करते समय नदियों तथा उनके तटवर्ती नगरों का अभिलेखीय-वर्णन भी भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करता है। राज-नीतिक एवं धार्मिक प्रयोजन-वश दोनों का उल्लेख करते समय प्रशस्तियों में मिश्र-भिन्न प्रदेशों के नाम भी मिलते हैं। अन्य उपलब्ध प्रमाणों के साक्ष्य पर भी भौगोलिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। यथा—अशोक के स्तम्भ-लेख का परिशीलन उसे चुनार का सिद्ध करता है और यह भी कि उतने बजनी स्तम्भों को सूदूर प्रदेशों में भेजने के लिए गया में बैलों का सहारा लिया गया होगा। इसी प्रकार अन्य स्तम्भों के विषय में भी अन्य नदी-मार्गों का अनुमान लगाया जाता है। इसी तरह साक्षात् नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से भी अभिलेखों के द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान हो जाता है।

नगर चर्चा :—

अभिलेखों में राजाओं की राजधानी तथा उनसे सीधा सम्बन्ध रखने वाले नगरों का उल्लेख मिलता है। कलिग-विजय के बाद बौद्ध-धर्म-दीक्षित अशोक ने धर्म-लेखों द्वारा सोसली (वर्तमान पौली), उज्जयिनी तथा लल्लिहा प्रभृति विभिन्न प्रान्तों के कुमारों के पास अपना संदेश भेजा था। स्वयं भी उपागत की जन्मभूमि लुम्बिनी, साधना-क्षेत्र बोध-गया और प्रचार-स्थल सारनाथ की तीर्थ-यात्रा की थी। सारनाथ स्तम्भ-लेख में सध-भेद के प्रसंग में पाटलिपुत्र की भी चर्चा आयी है। मौर्यों के उत्तराधिकारी पुष्यमित्र की अयोध्या-लेख में 'कोशल-धिप' कया गया है। स्मरणीय है कि अयोध्या उत्तर कोशल की राजधानी थी। दक्षिण भारत के सात-वाहन नदियों के अभिलेखों में गोवर्धन (नासिक) जयस्वन्धावार के रूप में उल्लिखित है। ई० सन् प्रथम शताब्दी में कृपाण-नरेश कनिष्क की राजधानी पेशावर, लल्लिहा के समीप में हो थी। उसके सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख में बनारस का प्राचीन नाम वाराणसी का उल्लेख है। शक-क्षत्रप नहपान के नासिक लेख में प्रभास, मरुकच्छ, दणपुर, गोवर्धन, शोर्गारिण तथा इन्द्राम्बु के जुनागढ़ शिलालेख में वाकरावनि, मुगाट्ट, कच्छ, आनर्व आदि प्रदेशों का नाम मिलता है। अशोक के तेरहवें शिलालेख में कलिग तथा

आन्ध्र प्रदेश का निर्देश है। गुप्तकालीन सम्राट् समुद्रगुप्त के विजय प्रसंग में प्रयाग प्रशस्ति में कोसल, पीठापुर, काची प्रभृति स्थानों का नाम दक्षिण भारत के विजय प्रसंग में तथा समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल प्रभृति प्रदेशों के नाम सीमान्त राज्यों के रूप में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार चद्रगुप्त द्वितीय के विजित प्रान्तों में कावकाड अर्थात् प्राचीन सांची का, तथा कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर अभिलेख में लाट और दणपुर इन दो प्रधान व्यापारिक नगरों का उल्लेख है। गुप्त-नरेशों के समकालीन राजाओं के मुसुनियों-शिलालेख में पुष्कर और हर्ष-वर्धन के बौध्देय साम्राज्य में अहिच्छत्र भुक्ति का नाम आया है।

मध्ययुग में तीर्थों की विशेष चर्चा के कारण प्रयाग, वाराणसी तथा अयोध्या का नाम अपसद, कलचुरी तथा गहड़वाल दानपत्र के लेखा में तीर्थ के रूप में आया है। पाल नरेश धर्मपाल के खालिमपुर देवपाल के नालन्दा तथा नारायण पाल के भागलपुर साम्रज्यों में ब्रह्मण महोदय (बभ्रोज) नालन्दा तथा मुगेर की चर्चा है। एहोल-अभिलेख में चालुक्य-वशी शासक पुलकेशी प्रथम तथा द्वितीय की विजय प्रशस्ति में वातापीपुरी तथा काचीपुर का वर्णन है। मध्ययुगीय चन्देल राजाओं के अभिलेखा में कान्यकुब्ज तथा कालिंजर नगरों का वर्णन एवं दिल्ली के सल्तनत में विजयनगर के विन्ध्य से लेकर हिमालय तक की तीर्थयात्रा का वर्णन है। इस प्रकार विहगन-दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर अभिलेखा में निर्दिष्ट प्रदेश तथा प्रमुख नगरों की तालिका से भारत के भौगोलिक वानावरण की एक स्थूल रूपरेखा प्राचीन भौगोलिक ज्ञान में निरानन्द उपयोगी सिद्ध होती है।

सीमा निर्देश :—

ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि कुछ अभिलेखों में शासकों की विजय-यात्रा का वर्णन मिलता है जिनके आधार पर प्राचीन भारत की विभिन्न राज्य-सीमा तथा मार्गों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त होता है। अभिलेखों में वर्णित विजय प्रयाग से यह अनुमान लगना बलित है कि समस्त विजित प्रदेश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये जाते थे, किन्तु उस राज्य तथा उसके निकटवर्ती राज्यों की सीमाओं का ज्ञान अवश्य हो जाता है। यथा—अशोक के तेरहवें शिलालेख में बलिग-विजय के प्रसंग में उसी के साथ सीमा पर स्थित अन्य भारतीय यूनानी राज्यों के नाम भी उल्लिखित हैं। अशोक के द्वितीय तथा पचम शिलालेख में बलिग राज्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि अशोक

की राज्य-सीमा मुद्र दक्षिण से सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा अफ़्ग़ानिस्तान के भूभाग तक फैली थी। यह दूसरी बात है कि अशोक की केवल कलिगविजय श्री हो हाथ लगी। क्योंकि उसकी पैतृक राज्य-सीमा पहले से ही विस्तृत थी, जो उसे उत्तराधिकार के रूप में मिल चुकी थी।

ईसावी सन् के प्रारम्भ में पश्चिमोत्तर प्रान्त में शासन करने वाले कुषाणनरेश कनिष्क ने अपनी राज्य-सीमा को पूरब में काशी तक फैलाया था, जिसकी पुष्टि पेशावर तथा बहाबपुर रियासत से उपलब्ध कुर्रम तथा सूबिहार ताम्रपत्रों में और सारनाथ प्रतिमा स्तंभ में होती है। अनिलेखों के प्राति-स्थान भी भौगोलिक-सीमा पर प्रकाश डालते हैं। मुद्र-वृत्त के अनिलेख उस साम्राज्य की भौगोलिक सीमा के निर्धारण में विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। समुद्रगुप्त की प्रमाण-प्रशस्ति में आपावर्त तथा दक्षिणापय वमश, उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उस अनिलेख का अनुसंधान यह बतलाना है कि उत्तरी भारत में समुद्रगुप्त की राज्य-सीमा मध्य तक तथा दक्षिण भारत में काशी तक विस्तृत थी। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरीजी लौह-स्तम्भ लेख में “वर्चस्वा मल्लमुद्यानि मेन समरे सिन्धोविना बाल्लिकाः” इस उक्ति से पता चलता है कि उसकी राज्य-सीमा का निर्देश मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वि० की राज्य-सीमा की पुष्टि साँची-बेरिका तथा उदयगिरि-मुहानेख से भी होती है। मज्जिमुग के पात्रबद्ध अनिलेखों के साथ ही सेन-बद्ध लेखों से तत्कालीन भौगोलिक सीमा का ज्ञान होता है। बानुक अनिलेख (ऐहोल) में मयनेश की विजय-सीमा भारत में बाहर लका तक चली गयी थी। वहीं पर पुत्रसेन द्वितीय की राज्य-सीमा महाराष्ट्र, कोयल तथा कलिङ्ग से लेकर दक्षिण पूर्व में काचो और कावेरी तक थी। यह अनिलेख दक्षिण भारत के अन्य राज्यों की सीमाओं का भी निर्देश करता है। आशय यह है कि इन अनिलेखों से प्राप्त राज्य-सीमा की सूची से भौगोलिक ज्ञान अधिक सकारात्मक उठता है, जो इतिहास-निर्माण की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

मार्ग-निर्देश :—

प्रचलित मानों का जैसा वर्णन साहित्य में मिलता है वैसा ही अनिलेखों में नहीं मिलता किन्तु उनमें वर्णित राजाओं के यात्रा विवरण में प्राचीन भारत के विभिन्न भागों का चित्र उद्भूत हो जाता है। पहले प्रधानतया अनिलेखों के अनुसार स्थान-मार्ग और जनमार्ग का संकेत मिलता है। इसके साथ ही यात्रायात्रा

तथा व्यापारिक अनिलेखों से तत्कालीन मार्ग सम्बन्धी भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान होता है। विभिन्न अनिलेखों में उत्तरी भारत के लिए उत्तरापथ और दक्षिणी भारत के लिए दक्षिणापथ इन दो नामों से भारत के विद्याल नू-भाग को अभिव्यक्त किया गया है। ये मार्ग नी उद्देश्य-भेद से दो प्रकार के बनवाये जाते थे—(१) यात्रा-मार्ग तथा (२) अनियान-मार्ग।

यात्रा-मार्ग :—

बौद्ध-साहित्य तथा अशोक के द्वितीय शिलालेख से यह मज़ी भाँति ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध जल्बेला से सारनाथ तथा साकेत मार्ग से थायन्ती गये थे, जिन मार्गों के बीच-बीच में सैकड़ा काराग (विधाम-स्थान) बने थे। अशोक जब उज्जयिनी तथा लक्षविला का राज्यपाल था तो वहाँ तक मुमता से यात्रा तय करने के लिए उरुने अच्छे-अच्छे मार्गों का निर्माण और उन मार्गों के किनारे वृक्षों तथा झूने का भी आयोजन करवाया था।

इन विभिन्न लेखों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि पाटलि-पुत्र से लक्षविला तक प्रशस्त राजमार्ग था, जिसकी छात्ता सारनाथ से कौषाम्बी तथा उज्जयिनी होकर भरोच बन्दरगाह तक चली गयी थी। इसी प्रसंग में नदी पार करने वाले मार्गों में घाटों का उल्लेख आया। नासिकलेख में दूदा, पारदा, हापी तथा शहनुवा प्रभृति नदियों की चर्चा आयी है, जिनके पाटकरो को ऋषभदत्त ने मारु कर दिया था और यात्रियों के लिए वहाँ पर विश्राम-स्थान बनवा दिया था। बुद्ध व्यापारिक-मार्गों की भी चर्चा आयी है। प्राचीन समय में व्यापार का उत्तरदायित्व श्रेणी नामक सम्पा पर था। गुप्त-युग के दामोदरपुर साम्रपत्रों में 'साप्यवाह' शब्द का प्रयोग आया है, जो व्यापारिक-सम्पत्तों का मुक्तिपा माना गया है। 'साप्य' को व्यापारिक-समूह और उस दल के नेता को 'साप्यवाह' कहा जाता था। कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख में कोटिवर्ष (३० बगाल) के साप्यवाह दन्धुमित्र तथा बुधगुप्त के दामोदरपुर-साम्रपत्र में दन्धुमित्र का उल्लेख है। व्यापारियों का यह समूह विभिन्न मार्गों से बेलगाढी या घोड़ी अथवा गदहों या ढँटों पर सानान लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान में व्यापार करता था। इन प्राचीन यात्रायात्र-साधनों द्वारा विभिन्न किन्तु मुरसित तथा सुगम मार्गों से साधारण जनता तथा व्यापारियों का आवागमन होता था। निष्कर्ष यह कि भौगोलिक-काल से ही भारत में प्रजा-हित के लिए सुगम राजपथ प्रशस्त थे।

अभियान-मार्ग :—

अमिलेखों में शासकों के अभियान (आक्रमण) वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि उनकी सेनाएँ किसी न किसी सुगम मार्ग का सहारा लेकर ही शत्रु-राज्य की सीमा का अनिक्रमण करती रही होगी। अशोक के तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके द्वारा कलिङ्ग-विजय के लिए कई लाख सैनिकों को सुगमता से वहाँ तक पहुँचाने के हेतु सुलभ मार्ग का अन्वेषण हुआ होगा। प्रयाग-प्रचलित के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय के लिए एक नवीन मार्ग का सहारा लिया था, जो आजकल प्रयाग से जबलपुर की ओर जाता है। दक्षिण-पूर्व भाग के शासकों को पराजित करता हुआ समुद्रगुप्त काशी तक चला गया था। तदनन्तर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिम भारत की विजय की। दक्षिण के ऐहोल अमिलेख में पुलकेशी द्वितीय की विजय-यात्रा के मार्गों का सविस्तर वर्णन मिलता है।

इस प्रकार इन अमिलेखों से मार्ग सम्बन्धी भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। पेघावर से बगाल, मयूरा से दिल्ली-राँची होते हुए बम्बई, पटना से प्रयाग, जबलपुर होकर बम्बई तथा कलकत्ता, भद्रास का वर्तमान रेलगाड़ी का मार्ग प्राचीन मार्ग पर ही अवलम्बित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त समुद्री जल-मार्गों का निर्देश भी शक-क्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़-अमिलेख में मिलता है, जिसने समुद्र के किनारे तक अपना अधिकार जमाया था। उसी अमिलेख में आनर्त, सौराष्ट्र, अपरान्त, भर प्रभृति बन्दरगाहों का उल्लेख है। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से इतिहास निर्माण की दिशा में अमिलेखों का महत्त्व आँका जा सकता है।

आन्तरिक पक्ष :—

ऐतिहासिक दृष्टि से.—

प्राचीन भारत के इतिहास-ग्रन्थों में अमिलेखों से उपादेय तथ्यों की उपलब्धि होती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। यद्यपि अमिलेखों के मूल्यांकन में सनकता इस बात में होनी चाहिए कि ये लेख शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों की प्राप्ति में वहाँ तक सहयोग देते हैं? तथापि अतिशयोक्ति को छोड़कर यदि इन अमिलेखों के ऐतिहासिक पर विचार किया जाय तो उसकी उपयोगिता अवश्य आँकी जा सकती है। इतिहास-निर्माण की दिशा में पुरातत्त्व-साधनों में अमिलेख का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि जहाँ साहित्य दुर्लभ है, वहाँ पुरातत्त्व विषयों

की सहायता से इतिहास तैयार होता है। जहाँ पर इतिहासकार केवल लिखित साधनों पर निर्भर करता है वहीं पुरातत्त्व हजारों वर्ष के पुराने खण्डहरों को खादकर इतिहास रचाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित बातों की प्रामाणिकता अशोक के अभिलेखों से सिद्ध हो चुकी है। हरिश्चा की प्रमाणप्रशस्ति से रघुवश में वर्णित विजय-यात्रा की पुष्टि होती है। एवमेव हर्ष के अभिलेखों से बाण के कथनों की पुष्टि होती है। इन्हीं अनूत्पन्न अभिलेखों के अध्ययन मनन के फलस्वरूप प्राचीन भारत का इतिहास आधुनिक वैज्ञानिक स्तर पर भी प्रामाणिक सिद्ध हो सका है। इतना ही नहीं, भारतीय सभ्यता की विद्वन्मय गरिमा इन्हीं अभिलेखों की देन है। छोटे अभिलेखों में भी अनूत्पन्न ऐतिहासिक निधिवाँ मुरझिने हैं। यथा—मात्स्योपनिषद् के आधार पर ही मौर्य सम्राट् का व्यक्तित्व नाम 'अशोक' प्रकाश में आ सका, अन्यथा उनका धर्म-अभिलेख उन्हें प्रियदर्शी तथा ही सीमित रखता। अभिप्राय यह है कि प्राचीन अभिलेख अशोक, धनिष्क, गौतमी-मुनि शातकर्णों, रत्नसमन्, समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त द्वि०, स्वर्णगुप्त, चालुक्य-नरेण पुलकेशी द्वि०, धर्मपाल तथा ध्रुव आदि शासकों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। उनके प्रभाव, राज्य-नीतिज्ञता, धार्मिक सहिष्णुता, प्रजा-व्यसलता और कीर्ति की गाथा सुनाते हैं। अन्यथा इन प्रसिद्ध इतिहास पुराणों का वास्तविक चरित्र आज भी लोगों के लिए अनुकरणीय नहीं हो पाता अशोक के अभिलेखों में केवल कलि-विजय की चर्चा है, अतः यह निष्कर्ष निवाला जाता है कि कलि को छोड़कर हिमालय से मद्रास तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही जीता था। दक्षिण में मौर्य उत्तराधिकारी सातवाहन-नरेण ईसा पूर्व दूसरी सदी से चौथी सदी तक शासन करते रहे। नासिकगुहालेख के आधार पर सातवाहन-नरेण गौतमी-मुनि शातकर्णों की विजय तथा नृपान के पराजय की बात प्रकाश में आती है।

राज सत्रप रत्नसमन् की स्मृति उनके अनुमांड सिंहालेख में वर्णित है, जिसने दक्षिण-पश्चिम-दिशि शातकर्णों को दो-दो बार हराया था। प्रमाण-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का सुन्दर वर्णन है, जिसका विवेचन हम उस अभिलेख के प्रसंग में किए हैं। मध्ययुग में कन्नौज पर अधिकार करने के लिए प्रविहार, राष्ट्रकूट तथा पाल-नरेणों में परस्पर युद्ध की स्थिति बनी रहती थी, जिसकी पुष्टि कोर-सम्राट्-लेख, खालिमुद्द-प्रशस्ति तथा खालिदर-प्रशस्ति से होती है। उनमें ध्रुव, धर्मपाल तथा बन्सरान के विजय-मराजय का उल्लेख है।

उपर्युक्त तीनों वर्गों के अभिलेखों से धामकों में वशानुगत बद्ध वंश-जनित युद्ध-भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है। इसी प्रकार ऐहोल प्रशस्ति में पुलवैशी द्वितीय की जीवन-कथा तथा उसके द्वारा कन्नौज-नरेश हर्षवर्धन के पराजित होने की बात सिद्ध होती है “मयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्ष”। इस प्रकार ऐति-हासिक दृष्टि से भी इन मूल किन्तु सजीव अभिलेखों के महत्व का वर्णन जितना भी किया जाय थोड़ा ही है।

अब हम आन्तरिक पक्ष के अपेक्षित साधनों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

वंश-गुप्त :—

अभिलेखों का परिशीलन समन्वयित राजाओं की वंश-परम्परा का ज्ञान कराता है। जिस धामक के राज्य-काल में अभिलेख उक्तोर्ण होता था उसके पूरे वंश वृक्ष का उल्लेख कर दिया जाता था। यद्यपि ईसा पूर्व सदियों में यह बात नहीं थी, किन्तु १५० ई० में रुद्रशमन् के जूनागढ़ शिलालेख में उसकी वशावली का स्पष्ट उल्लेख है—“स्वामिचटनस्य पौत्रस्य राज्ञः सप्तपस्य मुगुहीत-नाम्न स्वामिद्रमशमन् पुत्रस्य राज्ञा महासप्तपस्य रुद्रशमन्”। पश्चिमी भारत के शक-शासकों के मुद्रा लेख में भी पिता पुत्र दोनों का नाम है।

गुप्त-कालीन अभिलेखा में वशावली की परम्परा चरम सीमा पर थी। समुद्र-गुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के मितरी स्तम्भ-लेख में पूरी वशावली इस प्रकार दी गयी है—

“महाराजश्रीगुप्तप्रवौत्रस्य, महाराज श्री धटोरुच पौत्रस्य, महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य कुमारदेवगामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त-पुत्र-सत्परि-वृहीतो महादेव्या धृवदेव्यामुत्पन्नस्य परमभाववतो महाराजाधिराज श्रीकुमार-गुप्तस्य” “प्रपितृविजुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः”। कहो-कहीं पर स्कन्दगुप्त की जगद पुरुगुप्त और उसकी वशावली की भी चर्चा आयी है, जिससे गुप्तों की दूसरी वंश-शाखा का भी ज्ञान हो जाता है। गुप्तकालीन वाकाटक राजा विन्ध्य-शक्ति के ताम्र-पत्र में उसके पितामह प्रवरसेन तथा पिता सर्वसेन का नाम आया है—“प्रवरसेन-पौत्रस्य श्री सर्वसेनपुत्रस्य धर्म महाराजस्य वाकाटकाना श्री विन्ध्यशक्ति”। प्रप्तर या घातु पत्र पर खुदे लेखों से जो वंशवृक्ष मिलते हैं उनके प्रतिहार-नरेश महेंद्रपद्म की राज-मुद्रा से उस वंश के राजा द्वारा किये

का क्रमबद्ध नाम मिलता है। हर्षवर्धन के बाँसखेड़ा साम्रज्य में नरवर्धन से हर्षवर्धन तक शासकों तथा रानियों के नाम उल्लिखित हैं। इसी प्रकार ऐहोल के अभिलेख में चालुक्यनरेशों की वंशावली निर्दिष्ट है। बंगाल के पालवर्धन राजाओं का वंशविवरण खालीमपुर साम्रज्य में मिलता है। इस भाँति प्राचीन अभिलेखों से अनेक भारतीय शासकों के वंशवृक्ष का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

जहाँ तक राजाओं के पारस्परिक युद्ध तथा विजय-श्रयाण के वर्णन की बात है, उसके विषय में उन राजाओं के अभिलेखों में सविस्तर विवेचन आया है, जिसकी आवश्यकता चाँची हम उन अभिलेखों के प्रसंग में आगे करेंगे।

शासन व्यवस्था :—

अभिलेखों के अध्ययन से प्राचीन शासन-व्यवस्था की भी रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। प्रचलित उत्कीर्ण करते समय अथवा राजाज्ञा प्रसारित करते समय राज्य के कुछ पदाधिकारियों का भी उल्लेख आवश्यक ढंग में किया जाता था। मौर्य-कालीन शासन-व्यवस्था का ज्ञान अशोक के अभिलेखों से होता है। अशोक-काल से ही पदाधिकारियों की पदवी तथा कार्य के सम्बन्ध में उल्लेख है। अशोक के पंचम तथा तृतीय शिलालेख में धर्ममहामात्य, राजकु, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों की प्रज्ञा-हित की दृष्टि से राज्य में भ्रमण करने की आज्ञा थी। इससे यह लक्षित होता है कि राजनीति के ग्रन्थों में वर्णित पदाधिकारियों की नियुक्ति शासकों द्वारा होती थी। अशोक के अभिलेखों से यह पता चलता है कि उनका साम्राज्य प्रान्तों में बँटा था, जहाँ पर राजकुमार भी प्रान्तपति के रूप में शासन करते थे। गुप्त-अभिलेखों में गुप्तशासन-प्रणाली का सविस्तर वर्णन मिलता है। प्रयाग का स्तम्भ-लेख यह बतलाता है कि प्रचलित का लेखक हरिवेध महादण्डनायक, सान्धिविग्रहिक तथा कुमारामात्य पर भी नियुक्ति कर चुका था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि-लेख में सनकानिक महाराज सामन्त तथा वीरसेन सेनापति का उल्लेख है। गुप्त-लेखों से यह ज्ञात होता है कि साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त होता था और उन प्रान्तों पर शासन करने वाले राज्यपाल, राष्ट्रिय, भोगिक, भोगपति तथा गोहा इन उन्हीं से सम्बोधित होते थे। प्रान्तों की भी त्रिला (विषय) में बाँटा जाता था, जिसका उल्लेख दामोदरपुर साम्रज्य में आया है। उसी से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रियों की नियुक्त पाँच वर्षों के लिए होती थी। नगर के कार्यालय को

अधिकरणक कहते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में उसके द्वारा सुराष्ट्र के प्रान्तपति तथा नगर-रक्षक के रूप में वर्णित तथा उसके पुत्र चन्द्रपालित की नियुक्ति का उल्लेख है। विभिन्न अभिलेखों में निम्नलिखित कतिपय प्रायःसैनिक अधिकारियों की सूची इस प्रकार मिलती है। यथा—राजा, राजानक, राजपुत्र, राजामात्य, सेनापति, विषयपति, भोगपति, पद्माधिकृत, दण्डपाधिक, बीरा-द्वरपति, अमात्य, ज्येष्ठकायस्थ, बलाधिकृत, दण्डनायक, धर्ममहाभात्र, विषय-व्यवहारी, सामन्त, सान्निधिप्रहिक, महादण्डनायक आदि। शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में दक्षिण भारत के दो लेख बहुत महत्वपूर्ण हैं—एक तजोर के समीप नालूर से तथा दूसरा मद्रास के समीपवर्ती उत्तर मेरुर नामक स्थान से मिला है। इन लेखों के अध्ययन से मध्ययुग के आरम्भ में सामन्तशासन पद्धति का पता चलता है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'समा' ग्राम के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं स्थानीय सभी प्रकार की समस्याओं की देख-रेख तथा उनका समाधान करती थी। उत्तर मेरुर का लेख अपने ढंग का अकेला है, जिसमें समा की विभिन्न उपसमितियों, सदस्य-निर्वाचन तथा कार्य-शैली पर प्रकाश डाला गया है, जो प्रजातन्त्र ढंग की शासन-पद्धति का चोख है। अभिलेखों में समुक्तग्रामन की भी चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। इसी प्रसंग में कुछ लेखों के आधार पर नारी-शासकों का उल्लेख भी आया है, जिसकी पुष्टि काश्मीरी मुद्रालेख तथा 'सोमलदेवी' के मुद्रा-लेख से होती है।

प्रजातन्त्र :—

अभिलेखों तथा मुद्रालेखों के अध्ययन से प्राचीन युग में दो प्रकार के शासन—प्रजातन्त्र तथा राजतन्त्र का पता लगता है। प्रजातन्त्र के लिए उस समय राज या संघ शब्द का प्रयोग होता था। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रबल साम्राज्य-भावना से संघ-शासन छिन्न-भिन्न अवश्य हो गया फिर भी उसका उन्मूलन नहीं हो सका। उत्तरीविहार में 'गृञ्जिसघ' इतिहास-प्रसिद्ध प्रजातन्त्र शासन था। अशोक के शासनकाल से साम्राज्य-भावना की ओर भी बल मिला, जिसके प्रभाव से संघ-शासन अपना चिर उदा न सका, किन्तु अभिलेखों के परित्यजन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजतन्त्र के साथ ही संघ-शासन भी चलता रहा। ईसा पूर्व सदीयों में भारत में प्रचलित सिक्कों के मुद्रा लेख इस बात की प्रमाणित करते हैं। दीपेय, कृबिन्द, आर्जुनायन तथा मालव संघ-शासकों के सिक्कों पर स्पष्टरूप से लेख मुद्रा है—यथा—“दीपेय गणस्य जयः, मालवाना गणस्य जयः,

आजुनादनाना जय" के ऐस प्रवोक्त कथन की पुष्टि में प्रमाण है। मालव-गा का उल्लेख तथा यौधेय-गा का वर्णन, शक-नरेश नहुषान के नासिक तथा रुद्रामन् के जूनागढ़ लेखों में ब्रम्भ पाया जाता है। समुद्रगुप्त के प्रमाणस्तम्भ-लेख से पता चलता है कि गुप्त-नरेश ने "मालवाजुनादन, यौधेय, माद्रक, आभीर" सभों की पराजित किया था। उसके बाद सप्त-शासन का अस्तित्व मिट-सा गया। इस प्रकार ईसा पूर्व चौथरी सदी से चौथी सदी तक अर्थात् साठ सौ वर्षों तक दो प्रकार के शासन का उल्लेख अभिलेखों में पाया जाता है।

उत्तर मेरु अभिलेख प्रजानन्त्र शासन-पद्धति के स्वरूप की मध्य झाँकी प्रस्तुत करता है। उसमें ग्राम-सभा की समिति के स्वरूप, उपसमिति का निर्वाचन निर्वाचन-पत्र तथा उम्मीदवार सम्बन्धी विवाद विवेचन मिलता है।

उससे पता चलता है कि उस भूना के निवासी राजनीतिक मूल अधिकार तथा चुनाव-सम्पा की ओर विशेष ध्यान देते थे। न्याय तथा तात्त्विक विचारों के आधार पर अपना कार्यक्रम बनाते थे। केन्द्रीय सरकार तथा सभा के कार्य का विवेचन करते समय ग्राम के नियमों की विशेष आदर प्राप्त था। यदि समासद किसी सार्वजनिक कार्य के लिए श्रृण लेता था, तो भविष्य में बुने जाने वाले सदस्य या उपसमिति को मान्य होता था। उसमें सलमन कार्य को पूरा करना, श्रृण चुकाना या मूद देना आदि सुनी बातें नयी उपसमिति को मानना आवश्यक था। इस प्रकार ग्राम-सभा की कार्य-शक्ति बहुत ही बड़ी थी। प्रजातन्त्र-शासन के प्राणमूत ग्राम-सभा का ऐसा सजीव चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता।

राजतन्त्र :—

इसी प्रकार अभिलेखों से राजतन्त्र-प्रणाली की शासन-व्यवस्था की मोटी-मोटी रूप-रेखा भी यों समझना चाहिए—भीयं तथा गुप्त सम्राटों के अभिलेखों से राजतन्त्र प्रणाली की शासन पद्धति के सम्बन्ध में स्थूलरूप से यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा होता था, जिसको 'मुक्ति' कहते थे। मुक्ति भी जिलों में बँटे होते थे, जिन्हें अभिलेखों में विषय की सजा दी गई है। शासन की मुख्यव्यवस्था की दृष्टि से विषय भी 'ग्राम' सड़क छोटे भागों में विभक्त किए जाते थे। ग्राम ही शासन की सबसे छोटी इकाई था। केन्द्रो में राजा स्वयं शासन करता था और उनको परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति होती थी। अशोक के प्रधान प्रिन्सालेखों में इसे 'परिषद्' कहा गया है।

अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि राजतन्त्र के शासक भी प्रजाहित-चिन्तन में तत्पर रहते थे। अशोक ने एक लेख में—“सर्वे मुनि से प्रजा ममा अथा प्रजाये रच्छामि हकं विव सवेन हिउ सुखेन हिउ लौकिके पाललोकिके” इस उक्ति द्वारा अपनी प्रजा-वत्सलता का सुन्दर उदाहरण दिया है। अशोक के परवर्ती राजा भी प्रजा हिउ की चिन्ता करते थे। जूनागढ़ के लेख में शक्यनपद्मदामन् के प्रजा वान्सन्त्य के विषय में लिखा है—“अपीढयित्वा कर, विष्टि, प्रणय, त्रियामि पौरजानपद जन स्वस्मान् कापान् महता त्रिगुणदृढतरविद्वानायाम सेतु विषाय सर्वतटे मुदशंनवर वाग्निमिनि”। जूनागढ़ के गुप्त-लेख से पता चलता है कि स्वन्दगुप्त भी पश्चिमी प्रान्त के योग्य शासक के लिए प्रजा-हित की दृष्टि से विशेष चिन्तित था। “सर्वेषु देशेषु विषाय गोप्तृन् सचिन्तयामास बहुप्रकारम्”।

इसके अतिरिक्त पाल-नरेय घमपाल के खालीमपुर लेख से विदित होता है कि उसके पिता गणपाल ने ‘मात्स्यन्याय’ को पराजित कर बमाल में शान्ति की स्थापना की, जिसमें प्रभावित होकर जनता ने उसे पाल-वश का शासक निर्वाचित किया। इस प्रकार अभिलेखों के विवरण से राजा के प्रजा-हित-चिन्तन तथा आदर्श राजशासन की वाता का परिचय होता है।

राजकर :—

राजतन्त्र शासन के पदाधिकारियों की चर्चा हम कर चुके हैं। अभिलेखों से राजकीय कर सम्बन्धी तथ्यों का भी ज्ञान होता है। अशोक के स्तम्भ-लेख में यह वर्णन है कि सम्राट् ने लुम्बिनी-यात्रा के प्रसंग में उसकी स्मृति में राजकीय कर को छोटे भाग की जगह घटाकर आठवाँ भाग कर दिया था। ई० सन् दूसरी सदी के जूनागढ़-लेख में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि शक्यदामन् भूमिकर तथा विष्टि अर्पान् बेगार से प्रजा को उत्पीड़ित नहीं करता था—“अपीढयित्वा करविष्टिप्रणयत्रियामि”। गौतमीपुत्र शातकर्णों के नासिकलेख में सब क्षेत्र को कर-मुक्त करने की बात बही गयी है। गुप्तयुगीन अभिलेखों में भी कर शब्द का प्रयोग आया है। प्रयाग-प्रचस्ति के विजय-प्रसंग में लिखा है कि ममुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के सामन्तों को पराजित कर दक्षिण भारत के शासकों से कर लेकर उन्हें मुक्त कर दिया—“सर्वकरदानाज्ञाकरण प्रणामागमन परितोषित प्रवग्धशासनस्य”। गुप्त युग के पश्चात् छठी सदी के वंश्याम दामोदरपुर तथा फरीदपुर के साम्रपत्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि छत्र भाग ही राजकीय कर था, जिससे दानवाही मुक्त था। पालवंशी खालीमपुर साम्रपत्र में कर को

वसूल करनेवाला अधिकारी 'षष्ठाधिकृत' कहा गया है। निष्कर्ष यह कि दसवीं सदी तक पैदावार का छठा भाग ही राजकीय कर समझा जाता था। ताम्र-पत्रों में दानभूमि को सन्नी प्रकार के करों से मुक्त माना गया है। हर्षवर्धन के समय विभिन्न करों के नाम पाये जाते हैं। भूमिकर नगद या सामान के रूप में दिया जाता था। कुछ अस्थायी कर थे और कुछ चुगी और बेगार के रूप में लिये जाते थे।

पश्चात् काल में अभिलेखों के आधार पर निम्नलिखित कर प्रचलित हो गये थे—

(१) भागकर—यह राजकीय कर था, जो पैदावार का छठा भाग था।

(२) भोगकर—यह भागकर से भिन्न किन्तु उसी का भेद विशेष था।

(३) सधान्य हिरण्य—भूमिकर का कुछ अंश, जो धान्य रूप में तथा कुछ नगद रूप में दिया जाता था।

(४) हाटक—बाजार से लिये जाने वाले कर को हाटक कहा जाता था। पाठवशी दानपत्रों में यह चुङ्गी शब्द में पुकारा जाता था।

(५) अचार घट प्रावेदय—इस शब्द का प्रयोग एक प्रकार के अस्थायी कर का बोध कराता है। यह कर ग्राम में पुलिस तथा सैनिकों के प्रवेश करने पर ग्रामीणों से लिया जाता था।

(६) दयापराध—बलभीलेख में इसका प्रयोग है। यह अपराधी से अस्थायी दण्ड के रूप में वसूला जाता था।

(७) भूतवात प्रत्याय—इसकी चर्चा बलभी तथा राष्ट्रकूट के लेखों में अस्थायी कर के रूप में आयी है। भूतवात से मुरसित (आघात) तथा निर्मात वस्तुओं पर लगाए गये कर का बोध होता है।

(८) विष्टि—बेगार—जिस कार्य की मजदूरी न दी जाय। जो गरीब व्यक्ति अस्थायी कर नहीं दे पाता था, उसे बेगारी करनी पड़ती थी। इस प्रकार रपायी तथा अस्थायी करों के नाम अभिलेखों में सुव्यवस्थित रूप से पाये जाते हैं, जो इतिहास के प्रशासकीय अध्याय की दृष्टि में सहायक तत्त्व हैं।

सामाजिक मूलक :—

भारतीय समाज की सर्वप्रमुख संस्था को 'वर्णाश्रम' कहते थे। उसी के आधार पर हिन्दू समाज व्यवस्थित है। स्मृतियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शुद्ध में चार वर्ण आये हैं, किन्तु अभिलेखों का उद्देश्य वर्णाश्रम का वर्णन करना नहीं अपितु शान, शासन, व्यापार तथा सेवा के अवसर पर प्रसगात् ब्राह्मणादि वर्णों की चर्चा मात्र प्रतीत होता है। अशोक के तृतीय, चतुर्थ तथा ८ वें शिलालेखों में तथा दक्षिण भारत के नरेशों के नासिक गुहालेखों में ब्राह्मणों का दानप्राप्ति श्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में उल्लेख है। क्षत्रिय नाम भी शुद्ध तथा अप्रहार देने के प्रसंग में आये हैं। गुप्तयुग के लेखों में तीन वर्णों का उल्लेख है। गुप्त-युग के पश्चात् प्रायः वर्णाश्रम-व्यवस्था में थोड़ी कमजोरी सी आ गयी, अतः एव पूर्व मध्ययुग के अभिलेखों में शासक का वसुधैव कुटुम्बकम् की स्थिरता के लिए वर्णाश्रम की रक्षा करना हो गया। इसका सबैत गुप्त-सामन्त सलोम के लोह-साम्राज्य, प्रभाकरवर्धन के वासुदेव ताम्रपत्र, मास्तर वर्मन् के निधानपुर तथा ११ वीं सदी के सदी के राजा इन्द्रपाल के गोहाटी ताम्रपत्र से मिलता है, जिन शासकों ने शिथिल वर्णाश्रम-व्यवस्था को सुदृढ़ किया और जिनके प्रभाव के कारण बंगाल के बौद्ध मतानुयायी पाल राजा भी वर्णाश्रम व्यवस्था की सुरक्षा में क्रियाशील था।

ब्राह्मण—गुप्तयुग से पूर्वकालीन ब्राह्मणों के विषय में अभिलेखों में यह उल्लेख है कि वे अपनी विद्वत्ता, शुद्ध आचरण तथा व्यावहारिक-क्षमता के कारण चारों वर्णों में श्रेष्ठ माने जाते थे। अन्य तीनों वर्ण उनके बनाये मार्ग पर चलते थे। गुप्तकाल में भी ब्राह्मणों का सम्मान बना रहा। गुप्तयुग के बाद ब्राह्मणों में उपजातियों तथा जीविका-साधन के विभिन्न भेदों के कारण उनका सम्मान कम हो गया। उनके स्थान में क्षत्रिय समाज के अगुआ बन बैठे और उनके आज्ञानुसार ब्राह्मण कार्य करने लगे। यद्यपि साहित्य में पचगौड का विवरण है किन्तु अभिलेखों में प्रधानतया शान्यकुब्ज, शैथिल तथा सरयूपारी ब्राह्मण-भेदों का उल्लेख है। छठी सदी के बाद गौत्र तथा वैदिक शाखा के आधार पर ब्राह्मणों का वर्गीकरण किया गया, जिसका उल्लेख प्रत्येक दान-पत्र में मिलता है। मालवा की प्रगति में ब्राह्मणों का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार मिलता है—

(१) माध्यन्दिन (शुक्ल यजुर्वेद) शाखा का ब्राह्मण ।

(२) आश्वलायन (ऋग्वेद) शाखा का ब्राह्मण ।

(३) कोपुम (सामवेद) शाखा का ब्राह्मण ।

अभिलेखों अनुसार ब्राह्मणों को यदुर्गम के अतिरिक्त अपने जीविकोपार्जन

के लिए अन्य कार्य भी हूँदने पड़े। यथा—मध्ययुगीन-प्रशस्ति में उनसे पीरोहिय, मन्त्रित्व तथा सेनापतित्व का भी उल्लेख आया है। आपत्ति या परिस्फिति-द्वय वे जीविका के लिए देशान्तर भी जाते थे।

क्षत्रिय—सानवी सदी से शानन सम्बन्धी अभिलेखों में क्षत्रियों का नाम आता है जो राजनीतिक परिस्फिति-द्वय ममाज में अग्रणी हो गये थे। पूर्व-मध्ययुग में क्षत्रियों के लिए 'राजपूत' शब्द का प्रयोग मिलता है जिनका निवास-स्थान राजपुताना बताया गया है। 'राजपूत' की उत्पत्ति के विषय में इन विप्रहराज के अभिलेख विवेचन प्रसंग में सविस्तार विचार करेंगे। राजपूत नरेशों का अभिलेख उन्हें प्राचीन क्षत्रिय-वर्ग का वराज सिद्ध करता है। उस युग में राजपूत भी दो वर्गों में विभक्त हो गये थे—

(१) शासक वर्ग तथा (२) भाषारण क्षत्रिय वर्ग।

शासकों की श्रेणी में कुछ हूण प्रभृति विदेशी भी घुस आए थे, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध राजघराने से हो गया था। कलचुरी-लेख में इसका संकेत है।

राजकीय अभिलेखों का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि सानवी सदी से १२ वीं सदी तक राजकुमार को कुशल शासक बनाने के लिए समुचित शिक्षा दी जाती थी। मालवा के एक चहमान-लेख में तथा प्रतिहार-लेख में इसका उल्लेख है। सारांश यह है कि समाज में क्षत्रिय-वर्ग का शक्तिशाली तथा सफल शासक होने के कारण आदर या और के समाज के रक्षक भी थे।

वैश्य—स्मृतिकारी व अनुमार वैश्य का स्थान तृतीय जाति में था और उनका काम पशु-पालन तथा कृषि था। गुप्त-युग के परवर्ती अभिलेखों में दान के प्रसंग में कृषि, वन्य, पशु तथा व्यापारिक चुङ्गी का वर्णन आया है। बणिक् शब्द का प्रयोग वैश्य-वर्ग के लिए प्रायः सर्वत्र लेखों में पाया जाता है, जिसका उल्लेख परमार चामुण्ड राय के लेख तथा चहमान-लेख में मिलता है। इस प्रकार यह जाति व्यापार में भी अपनी जीविका चलाती थी। बणिक्-जमूह का एक वर्ग बैक का भी काम करता था, जिसका संकेत नागिक-लेख में है। व्यापार के अनुसार बणिक् श्रेणियों में विभक्त थे। न्यायीय व्यापारी छोटे या बेलगाड़ी के माध्यम से व्यापार करते थे और विदेशों में व्यापार करने वाले सापवाह कहलाते थे।

शूद्र—वर्ग व्यवस्था में शूद्रों की अन्तिम स्थान मिला है तथा उसका धर्म द्विजाति मात्र को सेवा था किन्तु अभिलेखों में इनका स्थान उदना हीन नहीं

पा । अशोक ने अपने घर्मलेखों में युद्धों के साथ समुचित व्यवहार का आदेश दिया था । उस समय युद्ध अस्पृश्य नहीं माने जाते थे । सेवा-कार्य के अभाव में वे वैश्य-वृत्ति से भी अपना निर्वाह करते थे । दानपत्रों से पदाधिकारियों के साथ कायस्थ और चाण्डाल जाति का भी बोध होता है जो चतुर्वर्ण से पृथक् थे । अमिलेल के अन्त में “कायस्थेन लिखित” से व्यक्त होता है कि कायस्थ-वर्ग ‘लेखकों के समूह’ अर्थ में प्रयुक्त था किन्तु सातवीं सदी से जानि अपने में भी प्रयुक्त होने लगा । ‘ब्राह्मण चाण्डालपर्यन्तान्’ इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि, युद्ध से पृथक् सबसे निम्नकोटि की चाण्डाल जाति थी ।

आश्रम—अमिलेलों के अध्ययन से मानव-जीवन के ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों का ज्ञान होता है । अशोक के समय में इस आश्रम-व्यवस्था में घिपिलता छो आयी किन्तु बाद में चारों की प्रतिष्ठा की गयी । दान के अवसर पर सामाजिक संस्कारों का उल्लेख मिलता है । साथ ही बहुपत्नी-व्रत तथा सती-व्रथा का भी संकेत मिलता है । संगीत की प्रधानता के कारण गायिका-गणिका का भी उल्लेख है । मनोरञ्जन के साधन के रूप में मृगया, संगीत, छूट-क्रीडा तथा छतरज के साथ राज-परिवार तथा उच्च परिवार की रमणियों में पक्षी-विनोद का भी वर्णन है ।

सामाजिक उत्सव तथा आवागमन :—

राजतिलक, विवाह, विजय तथा त्योहारों के अवसर पर उत्सव-विशेष का आयोजन होता था, जिसमें मुख्य रूप से नाटक तथा संगीत का मनोहर कार्यक्रम प्रमुख स्थान लेता था । आवागमन के साधन के रूप में स्थल-यान के रूप में रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट तथा बैलगाड़ी का अधिकतर उपयोग होता था, जल-यान में नाव तथा समुद्री जहाज का भी प्रयोग किया जाता था ।

चरित्र चरित्र—अमिलेलों के परिशीलन से भारतीय जन-जीवन के उज्ज्वल चरित्र का भी दिग्दर्शन होता है । गुप्त-काल में कोई व्यक्ति अधार्मिक, ब्यसनी, आतं, दरिद्र तथा पीडित नहीं था, जिसका संकेत जूनागढ़ लेख में “दरिद्रो ब्यसनी न दम्यो दण्ड्यो वा यो भृश न पीडित स्यात्” इस कथन से मिलता है । राजा की पारित्रिक विद्यालता का परिषय प्रयाग स्तम्भ लेख से स्पष्ट मिलता है । नालन्दा साम्राज्य के अनुसार ब्राह्मण दानप्राप्ति होकर भी उच्च आदर्शों की रक्षा के लिए धन का सहर्ष त्याग करता था । भारतीय जनता

का प्रधान आदर्श सासारिक वैभव न होकर परलोक और परोपकार साधन था। राजा बहूपत्नी-व्रती होकर भी सभी स्त्रियों के प्रति समान प्रेम तथा आदर का व्यवहार करता था। सामान्य जनता भी पवित्र जीवन का आश्रय लेकर दान, दान, तीर्थ और यज्ञों में विश्वास रखती थी। पूर्व-मध्ययुग के सहस्रों दान-पत्र जन-जीवन की धार्मिक भावना के द्योतक हैं। समस्त अमिलेखों से यह प्रकट होता है कि समाज में धार्मिक भावना का प्रादुर्भाव था। इन्हीं के प्रति लोगों की सतत जागरूकता तथा तीर्थ-यात्रा में उनकी भास्था उनके पवित्र-जीवन के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

धार्मिक स्थिति तथा उसकी सहिष्णुता :—

बौद्ध-मन—अमिलेखों के वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि अधिकतर लेखों का प्रणयन धार्मिक भावना की प्रेरणा का फल है। इन दिशा में सर्व प्रथम अशोक के ही शिलालेखों को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर अशोक ने इस धर्म की राज-धर्म के पद पर प्रतिष्ठित किया। स्तम्भों पर खुदवा कर भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी उसका प्रचार किया। धार्मिक-भावना के प्रतिपादन का प्रमुख साधन स्तम्भ-लेख हो गया। बाद में ईसवी सन् के आरम्भ में कुषाण-राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म की प्रोत्साहित किया और उसकी चौथी सगीति भी बुलवायी। मथुरा के बौद्धप्रतिमा लेख से इस बात का संकेत मिलता है। गुप्त-काल में बौद्ध-मत के प्रसार का आभास सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाओं से मिलता है। गुप्त-काल के बाद सातवीं सदी से बुद्ध के सीसरे पाल वसुधायन का प्रसार उत्तर भारत में पाया जाता है। पाल-नरेशों की प्रशस्तिपत्र 'नमो बुद्धाय' बुद्ध की इस प्रार्थना से प्रारम्भ होती हैं। अतः पाल-नरेशों के बौद्धमतानुयायी होने का संकेत मिलता है। इस प्रकार बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार का ज्ञान अमिलेखों से प्राप्त होता है।

जैन-मन—ईसा पूर्व छठी सदी से ही महावीर ने जैन-धर्म का प्रचार किया था, जो कालान्तर में भी विकासोन्मुख रहा। अशोक के अमिलेख में 'निग्रह' धर्म का प्रयोग जैन-धर्म के लिए किया गया है। उदयगिरि के गुहालेखों से उदीसा में जैन-धर्म के प्रचार की बात सिद्ध होती है। दूसरी सदी के जूनागढ़ लेख में भी जैन-मत का संकेत है। ई० सन् के आरम्भ में जैन-प्रतिमा की आषाढगिरि पर उत्कीर्ण लेख मिलते हैं। गुप्त-युग के अमिलेखों में भी जैन-

धर्म का सकेत है। पूर्व-मध्ययुग के राजपुताना के विस्तृत भूभाग में जैन-धर्म के व्यापक प्रचार का आभास मिलता है, जिसके फलस्वरूप महावीर पार्श्वनाथ तथा शान्तिनाथ की पूजा प्रचलित थी। चन्देल राज्य के प्रधान सजुराहो नगर में सेस तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं की आपार-शिला पर उत्कीर्ण लेख इस बात का प्रमाण है कि राज-बाग के अतिरिक्त जनसाधारण में भी जैन-मत का व्यापक प्रचार था।

भागवत धर्म—भौर्य युग के बाद गुप्त-युग में भागवत धर्म का प्राधान्य हो गया, जो वैदिक धर्म के प्रचार में प्रधान सहायक बना तथा बौद्ध-धर्म के प्रभाव को पटा दिया। अयोध्या-लेख से यह सकेत मिलता है कि भौर्य-युग के बाद सर्वप्रथम बुद्ध-नरेण पुष्यमित्र ने ब्राह्मण-धर्म को पुनः जागृत किया और दो अश्वमेध यज्ञ भी किये। अन्य तत्कालीन राजाओं ने भी उनका अनुकरण किया। ई० सन् चौथी सदी में गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख से उसके परम भागवत होने का स्पष्ट सकेत मिलता है और उसकी विष्णुभक्ति की चरम सीमा का प्रमाण गहडाङ्कित आजापत्र ही है। "गस्तमदङ्क स्वविषयमुक्तिं दासनं याचना"। उत्तरी भारत के लेखों में शैव-मत का प्रचार अधिकतर मन्दिर-निर्माण के वर्णन में ज्ञान होता है। सजुराहो का चन्देल-लेख इसकी पुष्टि में प्रमाण है। परमार राजा भोजदेव के वैतमा साम्र-पत्र में विष्णु-मन्दिर के सम्मुख गहड-ध्वज स्थापित करने का उल्लेख है।

शैव-मत—ईसा पूर्व सदियों में शैव कदरित के सिक्के पर शैव मत का उल्लेख है। कुपाण नरेशों द्वारा शैव मत को विशेष प्रोत्साहन मिला होगा। इसी-लिए अमिलेशों में वह 'महीश्वर' पदवी से विभूषित था। गुप्त-युग के अमिलेशों से शैव-मत के प्रचुर प्रचार का परिज्ञान होता है। चन्द्रगुप्त द्वि० के उदयगिरि-लेख तथा कुमारगुप्त प्रथम के नरमदण्डा लेख में शिवलिंग की पूजा का वर्णन आया है। गुप्तकाल के पन्नाई छठी सदी के शासक विष्णुवर्धन के मन्दसौर-लेख में तथा हूण-राजा मिहिरकुल की खालियर प्रशस्ति में शिव की वन्दना रोचक दृष्टियों में की गयी है। सातवीं सदी में बंगाल से भी शैव-मत के प्रचार का उल्लेख पाल तथा सेनवंशी प्रशस्तियों में मिलता है। बाद के अमिलेशों में इस मत के पाशुपत और कापालिक इन दोनों भेदों की विभक्ति का भी पता चलता है। इसके अतिरिक्त सूर्य-पूजा, शक्ति-पूजा और गणेश-पूजा का भी वर्णन यत्र-तत्र अमिलेशों में पाया जाता है। धार्मिक कार्यों में मुख्यरूप से वैदिक

यज्ञों, मन्दिर-निर्माण, पुराने मन्दिरों का सस्कार, देवपूजन, सत्र-धारणा, सत्संग गोष्ठो, दान, धार्मिक उत्सव, व्रत तथा तीर्थाटन का विशद विवेचन अभिलेखों में विद्यमान है।

धार्मिक सहिष्णुता—जहाँ तक एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ सम्बन्ध-निर्वाह की बात है उसके दिग्गम में अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि धर्मों में पारस्परिक सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में थी। अशोक से लेकर १२ वीं सदी के बंगाल नरेश तक धार्मिक सहिष्णुता की भावना से प्रेरित ये और धर्म के मामलों में बहुरूप्यो नहीं थे। विभिन्न शासकीय अभिलेखों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि धर्म के मानले में यहाँ के राजे सहिष्णु थे। अशोक ने १२ वीं शताब्दी में दूसरे धर्म की निन्दा का निन्द्य किया है। दक्षिण भारत के सातवाहन नरेशों के लेखों में एक ओर वैदिक यज्ञों का वर्णन है तो दूसरी ओर बौद्ध-संघ को गुहादान की भी चर्चा है। सातवाहन के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकु-नरेश ने वैदिक यज्ञ बर्ता होकर भी बौद्ध बन्धु से विवाह किया था। गुप्त-नरेशों का भी यही हाल था। गुप्त-नरेश परम वैष्णव होकर भी बौद्ध बन्धु से विवाह किया था। गुप्त-नरेश परम सौगत होकर भी ब्राह्मण-देवताओं के लिए दान देते थे। नारायण पाठ ने सैबर्गो सिव-मन्दिरों का निर्माण करा कर पासुपत भट्टानुयायी आचार्य को मन्दिर का पदाधिकारी बनाया था। समुराहो का विष्णु, टैंग तथा जैनमन्दिर धार्मिक सहिष्णुता के जीते जागते नमूने हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता उच्च कोटि की थी, जिसका उदाहरण अन्यत्र सम्भव नहीं।

आर्थिक स्वरूप :—

प्राचीन भारत की आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही अभिलेखों से नैतिक उन्नति का भी विसृत ज्ञान होता है। तत्कालीन अभिलेखों में सामाजिक विषयों पर चर्चा करते समय आर्थिक-स्वरूप का विवरण भी दिया जा सकता है। जनता द्वारा दान देने की प्रणाली से अभिलेख-कालीन जनता के वैभवपूर्ण सुखी जीवन का अन्दाज लगाया जा सकता है। धन तथा भूमिदान-प्रसंग से जन-जीवन की सन्तोष-प्रद आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। जुनागढ़-अभिलेख में यह वर्णन है कि प्रजा-वर्ग का कोई भी सदस्य दुखी नहीं था। दानार्थी का विवरण

आर्थिक सुदृढता के प्रबल प्रमाण हैं। कृषि-प्रधान देश होने के कारण प्रशस्तियों में सभी प्रकार के अन्न तथा फलों का वर्णन मिलता है। मध्ययुग के आरम्भ से दान सम्बन्धी आज्ञा-पत्रों में भोजन-सामग्रियों का तथा नालन्दा ताम्र-पत्र में "सम्पत् बहुपूजबहुदयिनि व्यञ्जनं युक्तमन्नम्" इस कथन से समुन्नत भोजन-स्तर का ज्ञान होता है। पालवर्षी दानपत्रों में नोची भूमि की उत्तमशक्ति की दानभूमि माना गया है जो वर्षा होने पर ज्वर हो सके। निष्कर्ष यह कि दानकर्ता कृषियोग्य भूमि को ही दान में देता था।

भूमि की सिंचाई की ओर राजा का विशेष ध्यान रहता था और सिंचाई-साधन में झील, नहर, तालाब तथा बाँय के निर्माण का उत्कृष्ट बहुधा अभिलेखों में पाया जाता है। इस सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्माण कराया गया और वज्रदामस् तथा स्कन्दगुप्त द्वारा संस्कार कराया गया सुदर्शन झील का वर्णन पर्याप्त है। शक्ति के सातवाहन भरेण पुष्पावती के राज्य-काल में सिंचाई के लिए तालाब बनवाने का उत्कृष्ट लेखों में आया है। सप्तम सदी के लेखों में इसकी विशेष चर्चा है। गुप्त-युग तक राजाओं का ध्यान सिंचाई के साधन के रूप में नहर निर्माण की ओर था। उत्तर-प्रदेश की देवल-प्रशस्ति में नहर-निर्माण का सुन्दर वर्णन है। इसके साथ ही यत्र-यत्र कुआँ, खूट तथा मोट से भी सिंचाई का वर्णन है। यह तो कृषि व्यवस्था की बात हुई।

व्यापारिक-संस्थाओं की राजाओं के कारण मन्दिरों में देव-पूजन के हेतु 'बट' देने की बात है। व्यापार सम्बन्धी समस्त कार्यों का संचालन एक संस्था द्वारा होता था, जिसे अभिलेखों में 'श्रेणी' कहा गया है। यह संस्था प्रजातंत्र शैली पर कार्य करती थी और देश की बहुत कुछ आर्थिक नीति श्रेणी के हाथ में ही थी। सातवाहन तथा सत्रिय काली अभिलेखों में समन्वित शिन्धुश्रेणी का वर्णन है। गुप्त-काल में भी औद्योगिक उन्नति का श्रेय तत्कालीन श्रेणियों तथा निगमों को था, जिसका उदाहरण कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर लेख में रेशमी बुनकर श्रेणी का उल्लेख है। नासिक तथा मयुरा लेख में श्रेणी तथा निगम के बैंक-कार्य का भी पता लगता है। अतः श्रेणी के वित्तीय धन-शक्ति सम्पन्न थे, जिससे उन बैंकों में जनता अपनी धनराशि वित्तासपूर्वक सुरक्षित रखती थी। इतना ही नहीं, बगान के बीजों के लेख में राज्य के अन्नमण्डार में अकाल-पीडित प्रजा को अन्न बाँटने तथा जनता को राज्य की ओर से ऋण देने का वर्णन है। राज-नगर से राज्य-कोष की पूर्णता का उल्लेख तो सर्वत्र मिलता ही है। दक्षिण भारत के

घंटघाला लेख में महानाविक गिरक का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ का व्यापार क्षेत्र जहाँ-जहाँ के माध्यम से विदेश तक भी विस्तृत था। जावा के राजा की प्रार्थना पर पाठ-शास्त्र ने जो पाँच गौड़ दान में दिया था उससे दिव्यप्रेम की इच्छा के साथ ही अमिलेखों से निम्न-स्तर के नारंगीय आर्थिक स्वरूप का परिज्ञान होता है।

अमिलेखों में माहित्य-वर्चा :—

यद्यपि प्राचीन समय में अमिलेखों को उत्कीर्ण कराने का उद्देश्य साहित्यिक न होकर कुछ और ही था यद्यपि उन उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट परिचित होता है कि प्रशस्ति-कार चरण कोटि का विद्वान् और साहित्य-शास्त्र की परम्परा से पूर्णतया अवगत होता था, जिनकी प्रशस्ति-पत्रों में साहित्य-सौन्दर्य की भी मनोरम झलकी मिल जाती है। प्रशस्ति-पत्र प्रायः प्राकृत या संस्कृत भाषा में लिखी जाती थी। यों तो संस्कृत में लिखने की बड़ा प्राचीन वाद से ही विद्यमान थी किन्तु खड्गामय के जनागलेख से पूर्व संस्कृत भाषा का कोई भी अमिलेख उपलब्ध नहीं है इसलिए संस्कृत अमिलेखों में यह लेख सर्वप्रथम माना जाता है। इस अमिलेख का लेखक एक विद्वान् साहित्यिक नवरत्न है, जिसने इस छटे से अमिलेख में गद्य-पद्य के वैशिष्ट्य का सुन्दर नमूना देखा दिया है, जिसका उल्लेख हमी के बाब्यादश में मिलता है। लेख में राजा के लिए "स्तुत-स्तुत-नपुर-विन-बान्ध-पुण्ड समदोशपल्लव गद्य-पद्य" यह विरोधन प्रयुक्त है, जो बाब्यादश में वर्णित—“इत्येव प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता, कर्प-व्यतिरदारत्वमोत्र. कान्तिसमाधयः” इस वैदर्भी शैली की विरोधता से समझा रहता है। संस्कृत के अलंकार प्रयोग में जो बाध की परिभाषा मिली गयी है उसी तरह की बातें उस अमिलेख में पायी जाती हैं। सम्पूर्ण लेख का परिशीलन यह बताता है कि लेखक बाब्य-शैली में लिखने का अन्यायी शक्ति था। संस्कृत साहित्य का प्रथम चरण होने के कारण यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि साधारण जनता भी संस्कृत से परिचित थी। अन्धका राजकीय लेख आलंकारिक भाषा में नहीं लिखा जाता, क्योंकि खड्गामय के अन्य मुद्रा-लेख प्राकृत भाषा में मिलते हैं। इतना ही नहीं, दक्षिण तथा पश्चिम भारत के समस्त लेख प्राकृत भाषा में लिखे गये थे। अतएव यह है कि ई० सन् १५० से पूर्व संस्कृतमय अमिलेख उपलब्ध नहीं हैं। तीसरी सदी से समस्त भारत में संस्कृत भाषा में

अमिलेख सुदवाने का प्रचार बढ़ा, जिनके अध्ययन से अनेक साहित्यिक तथ्यों का उद्घाटन होता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रथम-प्रशस्ति गद्य मिश्रित भाषा में लिखी गयी है, जो लघु-चम्पू-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। साहित्य दर्पण में "गद्यपद्यमय नाव्य चम्पूरित्यभिधीयते" यह चम्पूकाव्य की परिभाषा है। प्रयाग प्रशस्ति "ओत्र समासमृषस्त्वमेतद् गद्यस्य जीविनम्" इस साहित्यिक गद्यवैशिष्ट्य का चोमन निदर्शन है। इसमें इतने समस्त पद हैं कि लेखक का समास-गद्य-श्रेम स्वयं प्रकट हो जाता है। इस अमिलेख की एक विचित्र विशेषता यह है कि इसके लेखक हरिषेण जैसे विद्वान् प्रशस्तिकार का नाम अम्यम नहीं मिलता। चम्पू काव्य-शैली के उद्भासक इस कवि की अन्य कृति उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि हरिषेण जैसा सफल साहित्यिक मर्मज्ञ भी सन्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य तथा महादण्डनायक जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण राजकीय पद की भलकृप करता था। यद्यपि गुप्त-युग का अधिकतर लेख किसी छन्दविशेष को सेकर लिखा जाता था, किन्तु कुमारगुप्त का मन्दसोर लेख तथा स्कन्दगुप्त का जुनागढ अमिलेख अनेक कोमल एवं सरस छन्दों में लिखा गया है। हरिषेण की ही भाँति मन्दसोर-प्रशस्ति के लेखक वत्समट्टि का इतिहास भी अन्य साधनों से अभाव है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अमिलेख ऐसे विद्वान् प्रशस्तिकार का भी नाम बतलाता है जो अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार प्रशस्तिग्रंथों से सस्कृत-साहित्य के इतिहास की जानकारी में भी सहायता मिलती है। ब्रह्मदान् और समुद्रगुप्त के अमिलेख सस्कृत गद्य-साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय को पूर्ण करते हैं। गुप्तकालीन जिन कवियों की कीर्ति केवल अमिलेखों में सुरक्षित है, उनमें सबसे योग्य विद्वान् कवि वत्समट्टि हैं। उनके द्वारा रचित मन्दसोर-अमिलेख साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से बेजोड़ है। इस में दधुर में सूर्य-मन्दिर का मध्य वर्णन है। सस्कृत-साहित्य के इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा ललित किन्तु अर्थ-गौरव से ओतप्रोत है। पद्य सरस वैदग्ध्य शैली में लिखे गये हैं। अलंकारों का सुन्दर सन्निवेश चार चाँद लगा देता है। काव्य के इन्हीं गुणों के कारण वत्समट्टि महाकवियों की पक्ति में आदर से बैठे जाते हैं। इन पूर्वोक्त अमिलेखों का साहित्यिक वैशिष्ट्य विवेचन आगे उन-उन अमिलेखों के प्रसंग में किया जायेगा। इस युग के कवियों में वामुन का भी नाम अमर हो गया है, जिसने मालव-नरेश यशोधर्मन् की मन्दसोर-

प्रशस्ति लिख कर अपनी काव्य-निपुणता का परिचय दिया है। ईशान वर्मा की हरदा-प्रशस्ति के लेखक रवि शान्ति का नाम भी गौरव से लिया जाता है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि यह नाम भी अन्यत्र नहीं मिलता। चालुक्य-नरेण पुल्लेखी द्वितीय का ऐहोल-अभिलेख रविकीर्ति की काव्य शैली का अनुपम उदाहरण है। अभिलेख के २७ वें पद्य में रविकीर्ति "कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्ति"—इस कथन से कालिदास तथा भारवि के टक्कर के कवि हो गये थे। इस प्रकार प्रशस्तियों के अन्त में जिन कवियों के नाम आते हैं उनमें से प्रधान कवियों का निर्देश ऊपर दिया गया है। यदि अभिलेखों का अध्ययन नहीं होता तो इनकी कीर्ति का पता लगना असम्भव था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है संस्कृत-साहित्य का इतिहास इन अभिलेखों के बिना अधूरा ही रह जाता।

अभिलेखों में साहित्यिक पद्यों के अतिरिक्त कुछ नाटकों की भी खर्चा आयी है। अजमेर के शिलाखण्ड पर सोमदेव-रचित 'ललित विग्रह नाटक' उत्कीर्ण मिला है। उसमें बाह्मान-नरेण विग्रहराज का यशोगान है। धारा के समीप प्रस्तर पर हरकेलि नाटक खुदा हुआ मिला है, जिसका लेखक विग्रहराज था। धारा के एक अन्य शिलालेख में विष्णु के कूर्मवितार का वर्णन है, जो प्राकृत भाषा में है। इस प्रकार प्रशस्तिओं का परिचालन संस्कृत साहित्य के महत्वपूर्ण ऐतिहास पर प्रकाश डालता है।

अभिलेखों में साहित्य समीक्षा की दृष्टि से चन्देल नरेण के लज्जुराहो-लेख का उद्धरण प्रशस्तिकारों की काव्यमय शैली तथा साहित्यिक मूक्त की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करता है। पूर्व मध्ययुग में संस्कृत-साहित्य की उत्पत्ति परम सीमा पर थी। जिस गति से विविध विषयों पर संस्कृत में ग्रन्थ रचना हुई, उसी गति से अभिलेखों की उत्कीर्णता भी समुन्नत रही। काव्य-शैली, अलंकार प्राचुर्य, छन्दो-बाहुल्य, श्लेषाधिक्य एवं रस-प्रावण्य प्रशस्तिओं के प्राणमूर्त सत्त्व थे।

शिक्षण-संस्था :—

अभिलेखों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि भारत में शिक्षणसंस्थाओं का जन्म कुछ बाद में हुआ होगा। प्रारम्भ में अध्यापक-वृन्द व्यक्तिगत रूप से ही विद्या-दान करते थे। प्राचीन गुरुकुल, उदाशिला और काशी के गुरुगृह इस

शिक्षा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। ई० सन् दूसरी सदी के नासिक लेखों में शिक्षार्थी-मिश्रणा के भोजन-वस्त्रादि के निमित्त अग्रहार का उल्लेख है। बौद्ध-ग्रन्थ महावग्ग से यह विदित होता है कि शिक्षा कार्य बाद में गुहाओं में चलने लगा। तदुत्तर समस्त भारत में शिक्षा-केन्द्रों की व्यवस्था होने लगी। तक्षशिला, काशी, पाटलिपुत्र, कन्नौज, मिथिला तथा पारा का नाम शिक्षा-केन्द्रों में आदर से दिया जाता था। बौद्ध-विहार तथा हिन्दू-मन्दिरों में शिक्षा-सम्प्राओं का कार्य सम्पन्न होने लगा। अतः एक मठ-मन्दिर का अधिकाधिक दान मिलने लगा। तक्षशिला के लेखों से यह ज्ञात होता है कि वहाँ सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। गान्धार-कला की उन्नति से यह अनुमानित है कि तक्षग-कला की शिक्षा भी मिलती थी। तक्षशिला मुन्यवम्पित तथा सुगठित शिक्षा-केन्द्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता था।

तक्षशिला की जगह शिक्षा-केन्द्रों में काशी का स्थान ऊँचा था। इसकी सन् पूर्व से ही यह नगर भारतीय सभ्यति तथा शिक्षा का केन्द्र था। शिक्षा-केन्द्रों के रूप में काशी की प्रसिद्धि सदियों तक अक्षुण्ण रही। वैदिक-युग से लेकर बौद्ध-युग तक इसकी दैर्घ्यमिती स्थिति लाभम एक भी बनी रही। इसीलिए बुद्ध ने अपने प्रथम धर्म-प्रवचन का उपयुक्त क्षेत्र काशी (सारनाथ) को चुना। अशोक के समय से ही सारनाथ की प्रधानता हो चली और मौर्य-युग के बाद यह एक प्रसिद्ध बौद्ध-शिक्षा-केन्द्र बन गया। यहाँ पर शिक्षा कार्य १२ वीं सदी तक चलता रहा और यही कारण है कि महदवाल राजा गोविन्द चन्द्र की धर्मदत्ती कुमारी देवी के विहार-दान का विवरण सारनाथ-अभिज्ञेयों में मिलता है। सारनाथ-शीली की बुद्ध प्रतिमा बौद्ध-कला की अनुपम उपलब्धि है, जिससे साहित्यिक एवं दैर्घ्यमिती कलात्मक-प्रगति का आकाश मिलता है। आज भी काशी सभ्यत-विद्या के प्रधान केन्द्र के साथ ही भारत की सांस्कृतिक राजधानी मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त, पाटलिपुत्र के समीप नागन्दा का विहार अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सम्प्रा के रूप में प्रसिद्ध था। वहाँ पर भारतीय छात्रों के सिवा विदेशी विद्वान् छात्र भी भारतीय-सभ्यति का अध्ययन करने आते थे। पाँचवीं सदी में यह विद्या का प्रधान केन्द्र बन बैठा। गुप्त तथा पाल नरेशों ने इस विहार की उन्नति में अग्रवर्ग योग दिया। प्राचीन समय से ११ वीं सदी तक विहार-निर्माण-कार्य अवरुद्ध रहित से चलता रहा। नागन्दा की आधुनिक सुशोभ ने उसे एक

विशाल विश्वविद्यालय के रूप में उपस्थित किया है, जिसमें तीन सौ छोटे-छोटे कमरे तथा सात विशाल व्याख्यान मन्दिर भी थे। पूर्व-मध्ययुग के एक अभिलेख में विहार के गगन-बुम्बी हिसार का वर्णन मिलता है। ताम्र-पत्र के आधार पर जावा के राजा द्वारा निर्मित वहाँ के दो विहारों में निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजनादि के प्रबन्ध के लिए देवालय ने पाँच भाँव दान में दिया था, जिससे उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का परिचय मिलता है। इसीलिए चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा इस्लाम वर्षों तक नालन्दा विहार में शिक्षा ग्रहण करते रहे। नाठियावाड़ में बलभी भी प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ मुख्य स्नातक उच्च राजकीय पद पर नियुक्त होते थे। दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट राजा के मंत्री नारायण ने सलोत्पी (बीजापुर) में एक देवालय का निर्माण कराया था, जो १२ वीं सदी में वैदिक शिक्षा का केन्द्र बन गया। वहाँ की प्रचस्ति में छात्रों के भोजन, दीपक तथा आवास के लिये ५०० निर्वातन भूमि दान में दी गयी थी। अन्य लेखों से पता चलता है कि दक्षिण में कई विद्यापीठ राजकीय सहायता से चलते थे और प्रधानतया देवालय ही शिक्षा के केन्द्र हो गए थे। १२ वीं सदी में दक्षिण अरकाट जिले में एन्नायिरम् विद्यापीठ तथा चिङ्गलपुर में व्यंबदेव पेरूमल देवालय महत्त्वपूर्ण शिक्षण संस्था के रूप में प्रसिद्ध थे। इस प्रकार प्राचीन अभिलेखों का अध्ययन शिक्षा-केन्द्रों, छात्रावास, भोजन-वस्त्र, पुस्तक और औषधादि विषयों के समुचित प्रबन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

शिक्षा के विभिन्न विषय :—

प्राचीन अभिलेखों में अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा सम्बन्ध नहीं मिलता किन्तु दान के पात्र सम्बन्धी वार्ता में दानग्राही की विविध विषयक विद्वत्ता का वर्णन आया है। मौर्य-युग में प्रधानतया बौद्ध-धर्म का शिक्षा के विषय में बोल-बाला था। तदुत्तरवर्ती लेखों में विधिधन् यज्ञ-समाप्ति के उल्लेख से समाज में वैदिक शिक्षा प्रचार की बात सिद्ध होती है। पूर्व मध्य-युग के अभिलेखों का अनुशीलन वेद वेदांग के अतिरिक्त दर्शन, उपवेद तथा इतिहास के पठन-पाठन को सिद्ध करता है। साथ ही ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र का भी उल्लेख है, जिन विषयों के अध्ययन के बाद लोग राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित होते थे। इसलिए वेदांग (शिक्षा, निरुक्त, छन्द, व्याकरण, कल्प तथा ज्योतिष) का अध्ययन प्रधान हो गया। समस्त अभिलेखों का परिशीलन यह बतलाता है कि अधिवर्त

शास्त्रात ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा सामवेद इन तीन वेदों को ही शिक्षा पाते थे। वेदान्त में भी व्याकरण और ज्योतिष का अध्ययन प्रधान हो गया था। अध्ययन के अन्य विषयों में षड्दर्शन का भी अध्ययन अध्यापन होता था। अमिलेखों में प्रत्येक दर्शन का नाम पृथक्-पृथक् रूप से आया है। रीची, बाल तथा मुगेर के लेखों में दानशाही शास्त्रात को मोमासा, तर्क तथा वेदान्त का पण्डित माना गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि षड्दर्शन में भी ग्याय, मोमासा तथा वेदान्त का अध्ययन अधिक प्रचलित था। उपवेशों में—गान्धर्व वेद, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद की चर्चा छिटपुट रूप में मिलती है। आयुर्वेद की शिक्षा पर अधिक बोल दिया जाता था। धनुर्वेद की शिक्षा सम्भवतः राजकुमारों तक ही सीमित थी, किन्तु साधारण जनता को भी रुचि इस ओर थी। प्रयाग-प्रशस्ति में परशु-परशु प्रसासिचोमर प्रमूनि दस्त्रास्त्रों का उल्लेख है। गान्धर्व विद्या का विशेष उन्मूलन गुप्त-काल में हुआ था। प्रयाग स्तम्भ-लेख में समुद्रगुप्त गान्धर्व विद्या में नारद और तुम्बुरु को लज्जित करने वाला कहा गया है। कुमारगुप्त के मन्दसौर-अमिलेख के अनुसार अफी के लोग अन्य विद्याओं के साथ ही गान्धर्व एवं धनुर्विद्या में भी पारंगत थे। अमिलेखों के अध्ययन से चार प्रकार की हस्तकला का भी ज्ञान होता है। ये चार कलाएँ निम्नलिखित हैं—(१) वास्तुकला (Architecture) (२) तन्त्रकला (Sculpture) (३) ढालना (Casting) (४) तथा खोदना (Engraving)।

प्राचीन समय के अनगिनत मन्दिर, स्तूप तथा वेदिका वास्तुकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन पर खुदे लेखों के अन्त में कलाकार का नाम भी अंकित है। राजगुप्ताना तथा हर्ष-शिलालेख में शिल्पियों का उल्लेख है।

अमिलेखों में प्रयुक्त भाषाएँ :—

पाली—प्राचीन समय में बोलचाल की भाषा को ही अमिलेखों में स्थान दिया जाता था, ऐसा अनुमान है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम पालि भाषा का नाम आता है। इसी भाषा को बौद्ध धर्म-ग्रन्थ तथा अशोक के अमिलेखों की भाषा मानते हैं। आज से २५०० वर्ष पहले मगध की बोलचाल की भाषा को मागधी कहा जाता था। बुद्ध मगधाज ने इसी जन-भाषा के माध्यम से अपने उपदेशों का प्रचार किया और अशोक ने उसे धर्म-लेखों में स्थान दिया। अशोक के बाद मागधी इन नाम की जगह 'पालि' शब्द का प्रयोग आता है। यद्यपि पालि

भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में विवाद है, जो कि भाषा-विद्वानों का विषय है। ठार इसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है, तथापि हमें यह देखना है कि इस भाषा का प्रयोग, जो कि पहले मान्य ही इन गान से प्रसिद्ध था, अभिलेखों में विशेष कर अशोक के अभिलेखों में पाया जाता है।

प्राकृत—अशोक के बाद दक्षिण भारत के शानक सट्टवहन-नरेशों के लेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है। नाटिक, कन्हरी तथा कालों की प्रदर्शित प्राकृत में हैं। सत्तुत के बाद ही प्राकृत का प्रचलन अभिलेखों में हुआ, जो स्पष्ट तथा काल की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहा। यह भी जनसाधारण की बोल-चाल की ही भाषा थी। महान कालीन सभी लेख तथा क्षत्र मुद्रा लेख प्राकृत में ही हैं। उत्तर पश्चिम भारत में अशोक के दोनों—एहवाज ग्री तथा मानवेर लेख प्राकृत भाषा में ही लिखे हुए थे। उसके बाद भारत में ग्रीकानी राजाओं ने निदेशी होकर भी प्राकृत भाषा की ही बोलनाया। मिल्तिन्दा का विजयौर-लेख तथा सभी राजाओं के खरोष्ट्री में मुद्रालेख प्राकृत में हैं। बुधाल-राजा भीम कदमिष्ठ तथा कल्पि-समूह के राजाओं के लेख प्राकृत में हैं। प्रथम गुप्ताब्दी से समुद्र का भी प्रचार हो चला था, कुछ कल्पि के लेख सत्तुत से प्रभावित नजर आते हैं। सत्तुत-समूह के जैन प्रतिमा लेख तथा बामुदेव का मयूर प्रतिमा-लेख सत्तुत-निमित्त प्राकृत भाषा में लिखे हैं।

सम्भूत—अगर यह कहा गया है कि प्रथम गुप्ताब्दी से ही अभिलेखों में सत्तुत भाषा का प्रचार हो चला था, अब गुप्ता-विद्वानों के सम्भूत में ही है। उसके बाद गुप्ता का प्रयोग और मन्दसौर लेख भी सत्तुत में ही उपलब्ध हैं। दक्षिण में बाकटव, राष्ट्रकूट तथा चोलद्वीप लेख सत्तुत में पाए गये हैं। अब यह कहा जा सकता है कि दूसरी सदी से १२ वीं सदी तक अभिलेखों की प्रथा प्रधानतया सत्तुत ही थी। एतद्वालीन मुद्रा-लेख भी अत्यधिक मिले हैं। इसके स्पष्ट है कि साधारण जनता सत्तुत से अनभिज्ञ नहीं थी। इस प्रकार विद्वान-दृष्टि से भाषा ज्ञान भी हो जाता है।

निधियाँ तथा मंत्र :—

प्राचीन अभिलेखों का अध्ययन यह प्रकट होता है कि प्रशान्तिवार अभिलेखों की सुदृष्टि जनता उनके निधियों का अच्छे ढंग से करते थे। भारत के विभिन्न

से इतिहास निर्माण में अभिलेखा से पर्याप्त सहायता मिलती है। उनमें तिथियों का उल्लेख दो प्रकार से मिलता है—पहला राज्य वर्ष का उल्लेख तथा दूसरा किसी सबन्ध से सम्बद्ध का उल्लेख। अशोक के धर्म-लेखों में अभिषेक के आठवें वर्ष, तेरहवें वर्ष, छत्तीसवें वर्ष तथा २७ वें वर्ष का उल्लेख है। मौर्यों के उत्तराधिकारी सातवाहन के लेखा में गौतमी-पुत्र शातकर्णों का अठारहव तथा चौबीसवें वर्ष का उल्लेख इसी प्रकार मध्ययुग के पालवशी अभिलेखों में शासक के राज्य वर्ष के उल्लेख का प्रमाण है। इन तिथियों का किसी सबन्ध विवेक सम्बन्ध नहीं है।

१२०७५

प्राचीन भारत में दूसरे प्रकार के अभिलेखा में शासक की तिथि किसी न किसी सबन्ध से अवश्य सम्बद्ध है। अभिलेखों के अध्ययन से प्रधानतया विक्रम-संवत्, शकसंवत्, गुप्तसंवत् और हर्षसंवत् का पता चलता है। इनमें विक्रम, गुप्त तथा हर्ष-संवत् भारतीय राजाओं द्वारा तथा शकसंवत् विदेशी शक-आक्रमक द्वारा प्रचलित किया गया था। ईसवी सन् के आरम्भ से शक संवत् का प्रारम्भ हुआ जिसका सम्बन्ध कृपाण नरेशों के अभिलेखों से स्थापित किया गया। कनिष्क से लेकर वासुदेव तक के लेख एक क्रम से ३ से ४० तिथि से युक्त हैं। महानन का जुनागढ़-लेख तथा रुद्रदामन् का जुनागढ़ लेख क्रमशः ४६ वें तथा ७२ वें वर्ष में लिखा गया था। इन सब का सम्बन्ध उसी शकसंवत् से निश्चित किया गया है। गुप्त वंश के लेखों का अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वे लेख गुप्त-वंश से सम्बद्ध थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा-लेख की तिथि ८२ तथा कुमारगुप्त प्रथम के करम-दण्ड-लेख में ११७ तिथि उल्लिखित हैं। मनु-कुमार प्रणिमा-लेख में तिथि ११९ खुदी है जो उसके पुत्र स्कन्दगुप्त की जुनागढ़ प्रशस्ति में १३६, १३७, १३८ इन तिथिया का उल्लेख है। द्वितीय चन्द्रगुप्त का साँची लेख ९३ वर्ष में, इन्दौर ताम्र-पत्र १४६ वर्ष में वैश्यगुप्त का गुणोपर ताम्रपत्र १८८ वर्ष में तथा मानुगुप्त का धरण स्तम्भ-लेख १९२ वर्ष में खोदे गये थे। इन तिथियों को राज-वर्ष न मानकर गुप्त-संवत् से सम्बन्धित माना गया है। हर्षवर्धन के ताम्र-पत्र की तिथियाँ हर्ष संवत् से सम्बन्धित हैं और कुछ अन्य तिथियाँ भी। यहाँ तक कि नेपाल के लेख भी हर्ष-संवत् से ही सम्बद्ध हैं। अतः अभिलेखों से इतिहास के विवादग्रस्त तिथियों तथा सबतों का भी निर्णय करने में विवेक सहायता मिल जाती है।

अभिलेख लिखने के आधार, स्थान तथा अवसर :—

आधार—प्राचीनकाल में राज्याधिकृत कवियों को राजाओं की प्रशंसा अथवा किसी महत्त्वपूर्ण घटना के उल्लेख के लिए लेखों के आधार की आवश्यकता पड़ी। उस समय कागज की क्या बात भोजपत्र या तालपत्र भी आसानी से उपलब्ध नहीं थे। विद्या कण्ठगत थी, अतएव उसके लिखने की जरूरत ही नहीं होती थी किन्तु प्रशस्तियों और मुख्य घटनाओं के प्रचाराय उन्हें उत्कीर्ण कराना आवश्यक था। अतः ईसापूर्व सदियों में सर्वप्रथम प्रस्तर-लेख और तत्पश्चात् धातुओं को आधार बनाकर लेखों को उत्कीर्ण कराना प्रारम्भ हुआ। साथ ही अन्य उपयोगी वस्तुओं को भी लेख का आधार बनाया गया किन्तु उन सब में प्रस्तर-लेख को स्थायी मान कर उसे ही विशेष स्थान मिला। अभिलेखों के आधाररूप में प्रधानतया शिलाखण्ड, स्तम्भ प्रतिमा, स्तूप, अवरोपपत्र गुप्ता, ताम्रपट्टिका, सिक्के, मुहरें, वेदिका, आयागपट्ट, ईंट तथा मृत्तिका-पात्रों का उपयोग होने लगा।

अभिलेखों के लिए शिलाखण्ड का उपयोग सर्वप्रथम सम्राट् अशोक ने यम-लेखों को खुदवाने में किया। उत्तर मौर्यकाल में पुष्पमित्र गुप्त का अयोध्या शिलालेख उसके जीवन चरित्र पर प्रकाश डालता है। कुषाण-नरेश तथा एकदत्तपद्मदामन् ने जूनागढ़ लेख में शिलालेखों का प्रयोग किया था। गुप्तवंशीय राजाओं में सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने प्रशस्ति-अंकन के लिए शिलाखण्ड को आधार माना। उसी का अनुकरण उनके परवर्ती चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त—आदि राजाओं ने किया।

शिलालेख के बाद प्रस्तर का दूसरा रूप स्तम्भ भी अभिलेख का आधार बना। इसका प्रचलन भी ईसा पूर्व सदियों में ही हो चुका था। जहाँ पर शिलालेख उपलब्ध नहीं थे वहाँ पर स्तम्भों पर ही प्रशस्तियाँ खुदवायी गयीं। प्रस्तर-स्तम्भ का उपयोग सम्राट् अशोक ने तथा गुप्त-नरेश समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने किया था। चौदह शिलालेखों के साथ अशोक के सात स्तम्भ-लेख, समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के भीमरी स्तम्भ-लेख इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रस्तर-स्तम्भ के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने लौहस्तम्भ का भी उपयोग किया था, जिसका प्रमाण दिल्ली के निकटवर्ती मेहरौली लौह-स्तम्भ लेख है।

छठी सदी के यशोधर्मन् के मन्दसोर-लेख में भी स्तम्भ का ही प्रयोग किया गया है। भागवत धर्म से बौद्ध-धर्म के प्रभावित होने के कारण महायान शाखा में भक्ति भाव से बुद्ध-मूर्ति के पूजन का प्रचार बढ़ा और प्रस्तर के तीसरे रूप प्रतिमा तथा उसकी आधार-शिला पर लेख खुदवाए गये। ईसवी सन् प्रथम सदी में बोधगया की विशाल बुद्ध-मूर्ति तथा मयूरा की प्रतिमाओं के आधार-शिला पर लेख उत्कीर्ण हुए। गुप्त-शासकों के प्रतिमा-लेख भी मिले हैं—मनु-कुमार की बौद्ध-प्रतिमा, द्वितीय कुमारगुप्त तथा आदित्यमेन की बुद्ध तथा मूर्त्य-मूर्ति की आधार शिला पर लेख खुदे मिले हैं। इसके सिवा मध्यप्रदेश की एरण-प्रतिमा जो कि बराह भगवान् की मूर्ति है, उसमें हूण-राजा तोरमाण का यशोगान बरित है।

चीनी यात्रियों के उल्लेख से अशोक द्वारा स्तूप बनवाने का निर्देश मिलता है। किसी पात्र में फूल रखकर उस पर अण्डाकार या अर्धवृत्ताकार ढाँचा तैयार दिया जाता था, उसे ही स्तूप कहा जाता था, जिस पर लेख लिखे जाते थे। महावृ, अमरावती तथा सांची की स्तूप-बेहनी इसके उदाहरण हैं।

स्तूप के भीतर फूल (अवरोध) सोने या कीमती पत्थर के पात्र में रखा जाता था और उस पुष्प-पात्र (अवरोध-पात्र) को प्रस्तर के बक्से में रखा जाता था। कभी-कभी उस प्रस्तर या अवरोध-पात्र के ढक्कन पर भी लेख उतार दिये जाते हैं। उन्हें ही अवरोध-पात्र कहते थे। ऐसे पात्रों पर उपलब्ध-लेख में पीनरवा (बस्ती जिला) का पात्र-लेख सबसे प्राचीन है। मयूरा से भी अवरोध-पात्र मिले हैं, त्रिनर स्तूप उत्कीर्ण हैं। बौद्ध-धर्म के अन्वय के कारण भिक्षुओं का नगर के निकटवर्ती पर्वतीय गुफाओं में रहने की प्रवृत्ति से गुफा-लेख का प्रारम्भ माना जाता है। पश्चिमी भारत में बौद्धगुफाओं की अधिकता थी, त्रिनमें नासिक, एलोरा, अजन्ता भाजा, कालें, कन्देरी आदि गुफाओं में भिक्षुओं का निवास था। उड़ीसा में हाथी गुफालेख में कलिग राजाओं की जीवन-कथाओं का उल्लेख है। गुप्त-काल में गुहा-निर्माण की कला उत्तम दशा में थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि-गुहा लेख अत्यन्त प्रसिद्ध है। तन्कालीन गुहा-लेखों में सामाजिक, धार्मिक तथा चित्र-कला सम्बन्धी बातों का ज्ञान विरोध रूप से होता है, जिसका उदाहरण अजन्ता और वाग गुहा-लेख हैं।

मध्ययुग में सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने के कारण बौद्ध तथा हिन्दुधर्म में मूर्ति-पूजा की प्राधानता हो गयी और उसके साधन के लिये दान

का महत्त्व बढ़ गया। अतः जिसे दान दिया जाता था उसका उत्त्प्रेष दान-पत्र पर आवश्यक हो गया। इसीलिये ताम्र-पत्र का उपयोग लेख के लिए किया गया, जिस पर आसानी से दाता अपने दान का उत्त्प्रेष करके दान-ग्रहीता को दे देता था। ताम्र-पत्रों का प्रचार गुप्त-काल से अधिक हुआ है। ताम्र-पत्र में लेख खुदवाने का यही रहस्य था।

भारतीय इतिहास में सिक्कों पर लेख खुदवाने का सर्वप्रथम प्रयोग दूनाने शासकों ने किया। उन्हीं के अनुकरण पर गुप्ताण-नरेश तथा गुप्त-सम्राटों ने भी स्वर्ण सिक्कों पर छन्दोबद्ध लेख खुदवाए, जिन पर उन-उन राजाओं के आराध्य देवों की मूर्ति अथवा उनकी बन्दना मिलती है।

इसके अतिरिक्त मुहरा पर भी लेख मिलते हैं। ये मुहर-लेख प्रायः धार्मिक स्थिति पर विशेष प्रकाश डालते हैं। मुद्रा प्रयोग में प्रागैतिहासिक युग के नगर मोहेनजोदरो, हरप्पा से प्राप्त मुहरों से प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन काल में स्तूप के चारों ओर वेदिका बनवाई जाती थी जिस पर लेख खुदवाए जाते थे। इसकी चर्चा स्तूप प्रयोग में आ चुकी है। इसी प्रकार प्राचीन समय में मन्दिर तथा प्रतिमा के नीचे कुछ ईंटों पर लेख खोदे जाते थे, जिनका पता कनिष्क ने लगाया। मयुरा सप्रहात्म्य में ई० ५० पहली सदी के सुरभिस्त ईंटों तथा मिट्टी के पात्रों में छिन्न-भिन्न खुदे मिलते हैं। इस प्रकार अभिलेख लिखने के आधार का सक्षिप्त परिचय मिलता है

स्थान :—

यद्यपि अभिलेख कहीं भी खुदवाए जा सकते थे किन्तु उनके स्थान का चुनाव अपना विशेष महत्त्व रखता है। किसी उद्देश्य-विशेष के कारण ही अधिकतर लेख राजधानी, जयस्वन्धावार और प्रधान नगरों में खुदवाये गये थे। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में नगरों का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था जिनका किसी न किसी प्रकार का स्थानीय अथवा भौगोलिक महत्त्व था। कालान्तर में वही स्थान सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। अभिलेख खुदवाने के विभिन्न स्थानों का अनुशीलन यह सूचित करता है कि राजधानी, महत्त्वपूर्ण नगर, तीर्थ स्थान एवं जयस्वन्धावार की ओर शासकों का ध्यान विशेष रूप से रहता था और उन स्थानों पर महत्त्व के अभिलेख भी खुदवाये जाते थे। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के बाद सम्राट् अशोक ने साम्राज्य के विभिन्न तथा बौद्ध-धर्म के

सम्बन्धित स्थानों पर लेख अंकित कराया। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थानों में धर्म-लेख अंकित हुए। सारनाथ (प्रथम प्रवचन-स्थान) बोधगया (बुद्ध जन्म स्थान) तथा साँची में स्तम्भ-लेख सज्ज हैं, जो स्थान-विशेष के चोकर हैं। अशोक ने लेख को धर्म प्रचार का प्रधान माध्यम माना। बटव प्रधान नगर, राज्य-सीमा तथा धार्मिक केन्द्रों में धर्म लेख अंकित करवाये गये। अशोक के परवर्ती राजाओं ने भी राज्य सीमा पर अभिलेख खुदवाये, जिनमें पल्लव-नरेशों का तक्षशिला-लेख, नहगन का जुनागढ़ और नागिक-लेख तथा हर्षवर्धन का जुनागढ़-लेख प्रसिद्ध हैं।

बौद्धों के सोमा-महत्त्व को समझ कर ही समुद्रगुप्त ने अपनी विजय यात्रा का वर्णन अशोक-स्तम्भ पर लिखवाया होगा क्योंकि उत्तर भारत में दक्षिण भारत तक जाते समय इसी मार्ग में व्यापारी आते जाते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि लेख भी उसके उज्जयिनी जाने के समय अंकित किया गया होगा, क्योंकि उज्जयिनी उसकी दूसरी राजधानी थी।

प्राचीन समय में मालवा भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह विदिशा तथा उज्जयिनी प्रान्त की राजधानी था। मन्दसौर के अभिलेख इस बात का साक्ष्य हैं कि राजमार्ग में स्थित होने के कारण वहाँ धर्मियों का व्यापार होता था। बैदालो एक प्रधान नगर तथा सभ का केन्द्र था। इसीलिए विभिन्न कार्यालयों की मुहूर्तें वहाँ उल्लेख हैं। काशी (राणघाट) की मुहूर्तें धार्मिक भाव को लेकर अंकित थीं जिनमें पाँच मत की शलक मिलती है। इन स्थानों के अतिरिक्त यमकन्यावारों (सेनारम्पों) में भी लेख अंकित कराने का आदेश दिया जाता था। वह लेख सदा विजय के उपलक्ष्य में ही खुदवाया जाता था। बलभी, बंभोडा, मालिमुर तथा मुँदर के लालचर इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। पुराने समय में जिन स्थानों का कोई साम्प्रतिक महत्त्व था वहाँ पर भी प्रतिमा-स्थानों के समय मूर्तियों का आधार शिला पर लेख अंकित होने थे। इस सम्बन्ध में मथुरा तथा मारनाथ के अनेक मूर्ति-लेख प्रकाश में आये हैं। इसी प्रकार नन्दों भी शिक्षा का प्रधान केन्द्र था और वहाँ पर अध्ययन करने के लिये देश विदेश के छात्र आते थे, अतः शैक्षणिक दृष्टि से इस स्थान का अन्तराष्ट्रीय महत्त्व था। वहाँ के लेख शैक्षणिक महत्त्व को ही प्रकाश में लाने के लिए खुदवाये गये थे। इस प्रकार सशेर में राजधानी, यमकन्यावार, तीर्थ तथा साम्प्रतिक महत्त्व के स्थानों पर लेख खुदवाये जाते थे।

अवसर—विचार करने पर लेख उत्तीर्ण कराने के निम्नलिखित अवसरों का उल्लेख मिलता है—(१) दान के अवसर, (२) धार्मिक अवसर, (३) विजय यात्रा, (४) सामाजिक तथा (५) व्यापारिक अवसर पर ।

मौर्यकाल में गया जिले में स्थित 'बराबर' पर्वत का मुहूर्त्त दान के अवसर पर खुदवाए गये लेखों में सबसे प्राचीन है । ईसा पूर्व सदिशों में साँची देरिया पर भी उस वक के दानकर्त्ता का नामोल्लेख है । दान के अवसर पर खुदे लेखों में बगल के पालनरेय देवपाल का नालदा साम्राज्य विशेष उल्लेखनीय है । दान के अवसर पर लेखों का खुदवाया जाना बहुदातल से हुआ था । इसी प्रकार धार्मिक भावना के कारण भी अनेक के लेखों का तथा अन्य देवमन्दिरों के निर्माण के अवसर पर खुदे लेखों का वर्णन मिलता है ।

प्राचीन भारत में विजय-प्रयाण की समाप्ति पर विजय-विवरण की जानकारी अन्य लोगों को भी हो जाय अतएव उस अवसर पर भी लेख अंकित करवाये जाते थे । इस प्रसंग में प्रयाग स्तम्भलेख, उदयगिरि लेख, ऐहोल-प्रस्तुति, मोक्षपुर लेख एवं भोर सप्तहात्म्य का साम्राज्य लेख इनमें समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वि०, पुलकेयी द्वि०, प्रतिहार नरेय भोज तथा राष्ट्रकूट भुवनाज के विजय वृत्तान्त का वर्णन करते हैं । सामाजिक अवसर पर लेख खुदवाने की परंपरा प्राचीन समय में तो कम थी किन्तु मध्यकालीन अभिलेखों में इसका उल्लेख विशेष रूप से पाया जाता है । गृहपाल राजा जयचन्द ने राजकुमार के जन्म तथा बूढ़ाकर्म के अवसर पर दान दिया था । इनके अतिरिक्त अनेक त्योहारों पर भी दान देने का तथा उन्हें दानत्रयों पर अंकित कराने का संकेत है । त्योहार के ये अवसर थे—सहान्ति, अक्षय तृतीया, रामनवमी, कृष्ण-दशमी, एकादशी तथा अधिक मास । नटा-विता के आद्य के अवसर पर भी दानत्रयों का उल्लेख गृहपाल तथा कलचुरीनरेशों के लेखों में मिलता है ।

“आश्विनमासे कृष्णशे निभुः सावत्सारकथादे” ।

व्यापारिक अवसरों पर भी लेख खुदवाये जाते थे । मिट्टी की मूर्तों पर श्रेणियों द्वारा अनेक लेख मिले हैं । बंगाली में ऐसे लेखों की अधिकता है जिन्हें श्रेणी-मुक्तियों द्वारा व्यवसाय प्रसंग में तयार किया गया था । व्यापार-वृद्धि के लिए ही तिकके तयार किए जाते थे जिन पर कई वय के मुहूर्त्तलेख खुदवाये जाते थे । तिकों पर आर्थिक नीति की अपनाने का कारण राजाओं का नाम खोला गया था । कुतानी राज्यों यवनरेशों और गुरु सम्राटों के तिकों पर

पर्वानुक्त शास्त्रों का नाम पाया जाता है। इस प्रकार राज्य की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कई प्रकार के सिक्के तैयार किये गये। गुप्त युग के पश्चात् संगठित व्यापार न होने के कारण ही सिक्कों पर लेख खुदवाने का प्रचलन रहा। उपरोक्त अवसरों के अतिरिक्त कुछ गौण-अवसर पर भी लेख खुदवाने का रिवाज चल पड़ा था। एक क्षत्रप वट्टादामन् का सुदर्शन शील की मरम्मत कराने के समय का लेख तथा आदित्यसेन का अपसद का लेख इसी कोटि का था। उस समय रानी कोमदेवी ने तालाब खुदवाया था।

अभिलेखों का वर्गीकरण :—

उपसंहार में हम अभिलेखों के सज्जित एवं स्पष्ट वर्गीकरण का निर्देश करके इस प्राक्तन को समाप्त कर रहे हैं। अभिलेखों का उपरोक्त परिशीलन उन्हें मुख्य रूप से पाँच भागों में विभक्त करता है—

(१) धार्मिक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें प्रधानतया धार्मिक चर्चा है। उसका लक्ष्य धर्म का प्रचार प्रतीत होता है। अशोक का अभिलेख इसका उदाहरण है।

(२) प्रगंसात्मक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें शासक की प्रशंसा की गयी है। प्रगासक का दमोदरपुर तथा नान्दा के शासक इसके उदाहरण हैं।

(३) स्मारक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें शासक किसी घटना विशेष की स्मृति में खुदवाते थे इस प्रकार के अभिलेखों में अशोक का कुम्भिनी-लेख प्रसिद्ध है।

(४) आज्ञापत्र—ऐसे लेख जिन पर शासक अपनी आज्ञाओं को अंकित कराते थे। दामोदरपुर तथा नान्दा के शासक इसके उदाहरण हैं।

(५) दानपत्र—ऐसे लेख जिन पर दाता दान-ग्रहीता के नाम का निर्देश कर दानवस्तु को अंकित कराते थे। ऐसे लेखों में 'वरावर' का गुहानेख महत्वपूर्ण है।

आता है ये अभिलेख पाठकों के समक्ष अपनी गौरवपाया बहु करने में सन्तर्प हो सकेंगे।

महामना कृती समारोह

२५ दिसम्बर १९६१-६२

—शा-चन्द्र

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

(१) गिरिनगरे रुद्रदाम्नः प्रस्तराऽभिलेखः

मिदम् । इदं तडाकं मुद्रयन् गिरिनगरात् [पि ३] २

मृत्तिकोरथविम्बागयामोच्छ्रयनि मन्त्रिबद्धदृढमर्वपानीकत्वान्पर्वतपादप्रति-
स्पर्शमुक्षिष्टवन्धं वजातनाहृन्निमेग सेनुबन्धेनोपपन्नं मुप्रतिविहितप्रगाली-
परंवाहमोडविधानं च त्रिम्बन्धं नादिभिरनुग्रहैर्महत्पुपचये वनते ।

मिदि हो । गिरिनगर (आधुनिक जूनागढ़) के सभोप मिट्टी और पाषाण-
खण्डों की चौड़ाई, सम्बाई और ऊँचाई से बिना जोड़ की बंधी हुई अथ एव
मजबूत बन्ध-यक्तिया के कारण हड़ता में पर्वत के समोपवर्ती छोटी पहाडिया के
साथ स्पर्श करने वाला, ठोस, स्वभावतः विगात बांध से युक्त, समुचित रूप
से बने हुए जल के निकलने के लिए छोटी नाली, बड़े हुए जल को निकालने के
निचे बड़े माने और गन्दगी में बचने के उपाय से युक्त, तीन भागों में विभक्त,
और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था से सम्पन्न मुद्रयन् नाम का यह शील इस
समय बड़ी अच्छी दशा में है ।

तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य मुगुहीतनाम्न स्वामिचष्टनस्य पौत्र [स्य]
[राज्ञः क्षत्रपस्य मुगुहीतनाम्न. स्वामिजयदाम्न पुत्रस्य] राज्ञो महा-
क्षत्रपस्य गुहभिरन्मन्मनाम्नो रुद्रदाम्नो वर्षे द्विमसन्तिनमे ७२ मागंशोर्षं
बहुम्प्रति [पदाया] मृष्टवृष्टिना पञ्चन्येन एकार्णवभूनायामित्र पृथिव्या
कृताया गिरेःस्त्र्यंघनः सुवर्णसिक्तपाशसिनीप्रनूनीना नदीनामतिमात्रोद्-
वृत्तेर्वगे सेनुम [कि] यमापानुष्पप्रतिवारमपि गिरिगिष्वस्तस्त-
टाह्वान्कोपनन्मदारसरणोच्छ्रयविध्वसिना मुगनिघनमदृशपरमघोरवेगेन
वायुना प्रमथितसलिलविसिक्तजर्जरोकृताव [यव] क्षिमास्मवृक्षगुन्मन्ता-
प्राननमा नदीतलादित्युद्धाटितमासीत् । चत्वारिहस्तसतानि विशदुत्त-

राध्यायतेन एतावन्त्येव विस्तीर्णेन पञ्चसप्ततिहस्तानवगाढेन भेदेन निम्न सर्वतोय मरुधन्वकल्पमतिभृश दुर्दा शनमासीत् ।]

प्रातः स्मरणीय महासत्रप राजा चह्न के पौत्र, प्रातः स्मरणीय क्षत्रप राजा जयदामन् के पुत्र, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा सतत स्मरणीय नामवाले महासत्रप रूद्रदामन् के बह्तरवें वर्ष में अग्रहण महीने के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को घनघोर वर्षा हुई, जिससे समस्त पृथ्वी मानो समुद्र के समान प्रतीत होने लगी, फलस्वरूप 'ऊर्जयन्' नाम के पर्वत से निकलने वाली 'सुवर्णसिक्ता' एवं 'पलाशिनी' प्रभृति नदियों में बड़ी तेज की बाढ़ आ गई, उसके बाद मुदर्यन झील के बाँध को बचाने के लिये अनुकूल उपाय किये जाने पर भी, पर्वत की चोटियों, बुझों, तटों धटारियों, मकानों के ऊपरी छतों, दरवाजों और बचाव के लिये बनाये गये ऊँचे-ऊँचे स्थानों को विनष्ट कर देनेवाले तथा प्रलयकालीन भ्रमजन के समान प्रचण्ड वेगवाले पवन से बिलोडित जल के विलोम से ऊर्जरीभूत तथा पत्थरों, बुझों, झाड़ियों और लताओं के फँके जाने से दुग्ध वह मुदर्यन झील पलाशिनी प्रभृति उपयुक्त नदियों के प्रबल वेग से नदी की तरह हटी तक उल्लाह दिया गया । वहाँ ४२० हाथ लम्बी, ४२० हाथ चौड़ी और ७५ हाथ गहरी दरार पड़ जाने के कारण झील का सारा पानी बह गया । फलस्वरूप, वह मुदर्यन देखने में रेगिस्तान के समान बहुत ही बीमत्स हो गया ।

[तदिदं जनपद] स्याथै मौर्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकस्य मौर्यस्य [कृ] ते यवनराजेन तुपास्केनाधिष्टाय प्रणालीभिरलङ्कृतं तत्कारितया च राजानुरूपकृतिविधानया तस्मिन् भेदे दृष्टया प्रणाख्या विस्तृतसेतु ... ।

जनपद के बर्त्ताना के लिये मौर्यवंशी राजा चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय शासक वैश्यजातीय पुष्यगुप्त ने सर्वप्रथम मुदर्यन नाम के इस झील का निर्माण करवाया था, उसके बाद मौर्यवंशी राजा अशोक के लिये सुराष्ट्र प्रान्तीय यवन शासक तुपास्क ने उस मुदर्यन झील को छोटी-बड़ी नालियाँ से सुशोभित कर दिया, दरार पड़ने के बाद दीख पड़नेवाली, राजोचित सुरक्षा व्यवस्था से सम्पन्न और तुपास्क के द्वारा निर्मित उन्हीं नालियों से युक्त विशाल बाँध (बाले भान मुदर्यन झील को रूद्रदामन् ने फिर से दुस्त कर दिया—याने से सम्बन्ध ।)

...णा गभस्त्रिमृत्युर्विहृतसमुदितराजलक्ष्मीधारणागुणतः सर्ववर्णैः-

मिगम्य रसगार्थं पतिन्वे वृनेना प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्तिकृन्मत्य-
प्रतिज्ञेनान्यत्र सगमेष्वभिमुखानमदृशशत्रुप्रहरणविनरणवाविनुणरिपु ।

धृत्कार्ष्णेन स्वयमभिमनजनपदप्रणिनिनापुत्रशरणदेन दम्प्युत्तममृगरो
पादिमिरनुपपृष्ट्वंनगरनिगमत्रनरदाना वायाजितानामनुरकपर्वत्रकनोना
पूर्वारराकरावन्यनूनोवृदाननंसुराष्ट्रधममृकच्छसिन्धुपीवीरकुकुरापराङ्ग
निशदादीना समप्राणा तत्प्रभावाद्य [यथावद्व्यासधर्मा] यंकाम
विश्याणा विश्याणा पया सर्वशत्राविष्कूनवीरदम्बजातोत्सेकविधेयाना
पौरैयाना प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापययते सातकर्णोद्विरपि निर्व्याजमव-
जित्यावजिन्य सम्बन्धाविदूरनयानुदनात्प्राप्तपशमा मा

जन्म से ही अवाध रूप में प्राप्त राजसन्मी के क्षारणात्मक गुणों के कारण
मानी रक्षा के लिए समीप पहुँच कर सभी जानि के लोपो न जिसको अपना
राजा बनाया था, युद्धभूमि के अतिरिक्त आश्रयन मनुष्य हिंसा नहीं करने की
अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा को जिसने धरितार्थ किया था, समरभूमि में उपस्थित समकक्ष
दुश्मनों को जो अपने बाणों का लक्ष्य और दुर्बल शत्रुओं की अपनी दया का पात्र
बनाता था, अपने उपस्थित अवनत जनसमूह को जो दीर्घ जीवन और अमरमदान
देता था, चौर-बाहु, हिंसकजन्तु, जंगली जानवर और नानाविध रोग आदि से
सबंदा अनाहान्त रहनेवाले जनसमुदाय से युक्त 'स्थानीय स्वशासन संस्थाओं'
से सम्पन्न नगरोंवाले, अपने पराक्रम से उपलब्ध और राज्य के प्रति निष्ठावान्
मन्त्रियोंवाले, सन्तुलित रूप से धर्म, अर्थ और काम आदि त्रिवर्गों का सम्पादन
करने वाले—पूर्वी मालव, पश्चिमी मालव अनूप जनरद, उत्तरी काठियावाड़,
दक्षिणी काठियावाड़, साबरमती नदी के समीपवर्ती प्रदेश, मारवाड़, बच्छ,
पश्चिमी सिन्ध, पूर्वी सिन्ध, दक्षिणी काठियावाड़ और उत्तरी कोंकण के बीच का
प्रदेश, उत्तरी कोंकण, पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाड़ी भूमि, प्रभृति
सभी प्रान्तों का जो राजा था, सभी क्षत्रियों में प्रख्यात "बोर" शब्द से उत्पन्न
अभिमान के कारण स्वतन्त्र होकर रहने वाले "यौधेय" सत्रक सशस्त्र क्षत्रियों को
बलपूर्वक जिसने उत्साह कर फेंक दिया, दक्षिणीभारत के राजा सातकर्ण को
सुले भँदान में दो-दो बार जोतकर भी निकटतम सम्बन्ध के कारण मुक्त कर
देने से जिसने कोटि को प्राप्त किया ।

[प्रा]मविजयेन भ्रष्टराजप्रतिष्ठापकेन ययार्थहृम्नोच्छ्रयाजितोजिन-
धर्मानुरोगेन शब्दाद्यैर्गान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महेनाना पारणपारण-

विज्ञानप्रयोगावाप्तविमुक्तकीर्तिना तुरगगजस्थचर्मोमिचर्मनियुद्धाद्या...
निपरवत्तदाधर्मोष्ठवाक्रियेन बहुरहदानमानादवमानशीलेन स्थूलक्षेत्रे
मयावत्प्राप्तं ब्रह्मिन्त्वभावं. वनकरजनदेह्यं रत्नोपचयदिपन्दमानयोगेने ।

जिन्ने सर्वदा सर्वत्र दिव्य को ही प्राप्त किया, सम्बन्धुत राजाओं को जितने
द्विरे में प्रतिष्ठित कर दिया, न्याय के आसन से हाथ उठा-उठाकर मनुष्य
निर्णय देते रहने के कारण जिसने धर्म के प्रति अपने महात् अनुपाय का दण्डन
किया, व्याकरण, राजनीति, संगीत एवं तर्क आदि विज्ञान एवं गूढ़ शास्त्रों के
अध्ययन, स्मरण, सम्पत्, अनुभूति और व्यवहार में जिन्ने प्रभुत्व प्राप्त
किया छोटे, हाथी और रथ के चत्तान तथा डाल और तन्वा के मुट में जो
अत्यधिक साहस, स्वर्ग और सगर्भ दिखाता था जो दिन-रात ज्ञान और ज्ञान
के विषय में सर्वथा उदात्तभाव से चरण रहता था मनुष्य रूप में मिलनेवाली
मालगुजारी और बुढ़ी के कारण सोने चाँदी हरे रंग के बंदूकें मणि और गलों
की ढेर से जिसका बजाना भरपूर था ।

स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तनन्दसमजोदाखलङ्कृतगद्यपद्य . न प्रमाण-
मानोन्मानस्वरगानिकपमारुत्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरपेनवान्मूर्तिना
स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रव्याम्बवव्रानेकमान्यप्राप्तदाम्ना

स्फुट (अर्धध्वनि) लघु (प्रहास), मधुर (माधुर्य), चित्र (चित्र),
कान्त (कान्ति) प्रभृति शब्द-समय (शब्द नवित = वाक्यगुण) के प्रान्त और
अलंकारों से युक्त गद्यपद्यनक वाक्य-रचना में निरुण शैलिक गुणों से, यथोचित
चौदार्द, लम्बाई, ऊँचाई, होलने का स्वर, चलने की गति, शरीर के रंग, बल,
आदि शारीरिक गुणों में, तथा चक्रवर्त्त्य आदि के होतव्य ध्वन-चक्र आदि के
विह्वों से जिसकी आकृति चम्क रही थी, बीगतापूर्ण जादों में जिसने स्वयं
“महाक्षत्र” उपाधि को धारण किया और जिन्ने राजकुमारियों के व्यवहार
में अनेक उपमाओं का इस्तेमाल था ।

महाक्षत्रेण रत्नदाम्ना वर्षमहन्त्राय गोदाह्वय... धर्मकीर्तिवृद्धयर्थं
चापौष्ठयिन्वा करदिष्टप्रणयत्रिपानि. पौरजानपद जन स्वन्मान्वोगाम्मह-
ताधनोपेनाननिम्हना च बालेन त्रिगुणदृष्टनरविम्भाराज्ञान सेनु विधाय...
...[मु] दर्शनतर वाग्निनिर्गति ।

एत उपर्युक्त गुणों से बलवत् महाक्षत्र रत्नदाम्ने ने हजारों वर्ष तक मान

और ब्राह्मणों के कल्याण के लिए, पुण्य और यश की वृद्धि के लिए नगरवामी और ग्रामवासी प्रजाजनों को कर, बेगारी और भेंट आदि से बिना पीड़ित किये ही, अपने राज-रोग की अपार घन राशि के व्यय से थोड़े ही समय में, पहले की अपेक्षा त्रिगुने लम्बे-चोड़े और सुदृढ़ बाँध बँधना कर उस मुदर्शन को और अधिक सुन्दर बनवा दिया ।

अन्मिन्नये महाक्षत्रपस्य मनिमचिवकर्ममचिवैरमात्यगुणममुद्यत्तैरप्यनि-
महत्वाद्भेदस्यानुस्माहविमुखमनिमि प्रख्यानारम्भ पुनर्मेनुबन्धनैरा-
स्याद्वाहानूनामु प्रजाम्विहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहाय पाथिवेन
कृन्तानामाननमुराष्ट्राणा पालनार्यं निपुत्तेन पल्लवेन कुलपुत्रेणामात्येन
सुविशाखेन ।

इस विषय में यह स्मरणीय है कि—शत्रु के दरार की विचालता को देखकर महाक्षत्र रुद्रदामन के सचिवोचित समस्त युवा से युक्त मनिमचिव और कर्मसचिवों ने मान मुदर्शन झोल के जीर्णोद्धार कार्य के प्रति अपनी असहमति प्रकट कर दी । इससे बाँध के फिर से बँध जाने की आशा हट गई और प्रजा बाहि बाहि करने लगी । तब अपने शासन में प्रजा के हित को ध्यान में रखकर राजा रुद्रदामन ने समस्त जानत और मुराष्ट्र प्रदेश के राजपाल के रूप में 'पल्लव-कुल' का पुत्र अमात्य 'सुविशाख' को नियुक्त किया ।

यथावदर्थधर्मव्यवहारदर्शनैरनुरागमभिवर्द्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेना-
विस्मितेनार्येण स्वधिष्ठिना धर्मकीर्तियशामि भनुरभिवर्द्धयतानुष्ठितमिति ॥

धर्म-अर्थ और व्यवहार के समुचित निरीक्षण से प्रजा के अनुराग को बढ़ाने वाले, शक्तिशाली, सयमी, स्थिर, निरमिमानी, धार्योचित गुणों से सम्पन्न और अपने कर्तव्य से कभी नहीं छिपनेवाले अमात्य सुविशाख ने एक सफल शासन के रूप में अपने स्वामी के धर्म, कीर्ति और यश को बढ़ाने के लिये मुदर्शन झोल के बाँध को बँधवा दिया ।

अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

अभिलेख का विषय—मुराष्ट्र प्रान्त में 'शिरिनगर' नाम का एक स्थान था, जिसे आबकल जुनाफड कहा जाता है । वही पर पर्वतप्रान्त में एक प्रस्तर-राम पर उमाद् खोदक के धर्मोद्देश खुदे हैं । उमा प्रस्तर-राम के नीचे के

हिस्ते में महासमर रद्दामन् का यह अभिलेख भी उन्कीमें है। मौल्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा निचाई की दृष्टि से बनवाना गया, जूनगढ में स्थित, मुगलन झील के दूटने और रद्दामन् के एक प्रयासक के द्वारा उस झील के बाँध के पुनर्निर्माण की घटना से सम्बन्धित यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्व का है।

समय—एव अभिलेख का समय उत्कीर्ण वर्ष लगभग “बर्ष द्वितल्लिष्टिने” के आधारे पर एक समर ७२ अर्थात् १५० ई० माना गया है। साम्राज्यः सभी ऐतिहासिक इसका समय ईसा की द्वितीय सताब्दी का मध्यभाग ही मानते हैं।

जूनगढ का यह अभिलेख उत्तर के महासमर रद्दामन् के इतिहास निर्माण का प्रधान साधन है। इसके द्वारा रद्दामन् की सैनिक कुशलताओं, उसका साम्राज्य-विस्तार, राजनयन और उसके व्यक्ति पर पराजित प्रकाश पड़ता है।

परिचय—रद्दामन् भारत में विदेशी आक्रमण करनेवाले राजाओं में एक राष्ट्रीय राजाओं का वंशज था। एक राष्ट्रीय प्रयासक क्षत्र और महासमर कहलाते थे। डॉ० गंगाधर तिलक ने क्षत्र के समर को फारसी के ‘क्षत्रावन’ शब्द का संस्कृत रूपान्तर माना है, जिसका अर्थ—‘भारत का रक्षक’ होता है। ‘क्षत्र’ उपाधिधारी एक राजा लोग भारत के उत्तर-पश्चिम, मध्य, महापट्ट और उत्तर में राज्य करते थे। इन क्षत्र राजाओं का आरम्भ भारत के प्रथम एकविंशत ‘मातङ्ग’ से माना जाता है। ‘मातङ्ग’ का शासनकाल ‘मैगस्थनीस’ के अनुसार ई० मन् १० वर्ष पूर्व माना जाता है।

रद्दामन् का सम्बन्ध उत्तर के क्षत्रों से था। उत्तर के क्षत्र राजवंश का प्रथम संस्थापक ‘मण्डमित्र’ था, जो उनवत्त, ‘महान’ नामक महापट्ट राजा का वंशज था। इसी मण्डमित्र का पुत्र ‘सहन’ उत्तर का प्रथम एक राजा बना; जिसने पहले ‘क्षत्र’ के पद से शासन किया, किन्तु बाद में ‘महा-क्षत्र’ बन गया।

महासमर रद्दामन् क्षत्रराजा ‘जयदामन्’ का पुत्र और महासमर क्षत्र का पौत्र था। शिलालेख (पृ० १, पं० १३) में इस बात का इस प्रकार उल्लेख है :—

“राज्ञो महाक्षत्रस्य.....रद्दामन्ः.....।”

जहाँ तक इसके हाथ में शासन-मूत्र के जाने की बात है, उसका स्पष्ट संकेत होने अमिलेख (पृ. २, पं० २९-पृ ३ पं० १) में आये "सर्व्वर्णरमिगम्यर क्षणाय पन्निनेन वृत्तेन" से मिल जाता है कि समा जातिशों के लोगों ने इसे अपना रक्षक चुना था। इससे यह प्रतीत होता है कि रुद्रदामन को शासक चुना गया था। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि क्षत्रियों के शासन में महाक्षत्र, क्षत्र के साथ-साथ शासन करता था और यह क्षत्र साधारणतया उसका पुत्र होता था और उचित समय पाकर महाक्षत्र भी हो जाता था। 'अमिलेख' के अमिलेख में १३० ई० में रुद्रदामन के साथ चटन के सम्मिलित शासन करने का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि महाक्षत्र चटन अपने पुत्र क्षत्र रुद्रदामन को सहायता से शासनकार्य चलाता था किन्तु रुद्रदामन की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण चटन ने एकप्रथा के अनुसार अपने पुत्र रुद्रदामन को युवराज्य देकर अपने सहायक के रूप में क्षत्र नियुक्त किया और उसकी सहायता से राज्यसंभालन करने लगा। अमिलेख के उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि सभी लोग ने चटन द्वारा नियुक्त रुद्रदामन का, अपने रक्षक के रूप में, उसके राजोचित गुणों के कारण समर्पण किया और किसी ने भी इसका विरोध नहीं किया।

युद्ध और विजय—रुद्रदामन की मृत्यु के बाद चटन के राज्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र रुद्रदामन उज्जैन का प्रमुख एक क्षत्र राजा हुआ। अमिलेख की तिथि ७२ एब सवत् से उसका राज्यकाल १५० ई० के आसपास निर्धारित किया गया है। अमिलेख (पृ० ४, पं० १४) के—"स्वयमधिपत-महाक्षत्रनाम्ना" इस लेख से प्रकट होता है कि अपने शासन के प्रारम्भ में क्षत्रिय जब वह चटन के साथ मिलकर शासन कर रहा था तब वह केवल 'क्षत्र' ही था। किन्तु अपने स्वतंत्र शासनकाल में उसने स्वयं ही "महाक्षत्र" उपाधि को धारण किया। इससे उसके दिग्विजय और उसके द्वारा अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त "महाक्षत्र" होने की बात प्रकट होती है। डॉ० राय बोधरी ने अपने स्वयं "महाक्षत्र" होने में एक दूसरे उपाधि का निर्देश किया है। 'स्वयमधिपतमहाक्षत्रनाम्ना' (पृ० ४, पं० १४) में उन्होंने यह अनुमान लगाया है कि रुद्रदामन के राजकुल की राज्यश्री को कुछ समय के लिये किसी शत्रु ने सम्भवतः गौतमीपुत्र ने विजुल कर दिया था, जिसे उसने पुनः प्रतिष्ठित कर 'महाक्षत्र' की पदवी धारण की—

"This probably indicate that the power of his house had been shaken by some enemy (Possibly Gautamputra, and he had to restore the supreme Ksatrapa's dignity by his own powers' —Dr H C Roy Chaudhary

अभिलेख (पृष्ठ ३, पं० ९-१०) के 'दक्षिणाप्यसते ... प्राह्वयसा'— से यह ज्ञात होता है कि रद्रदामन् ने दक्षिणाप्य के राजा सातकर्णी को दो बार पराजित किया था। किन्तु निरुद्ध सम्बन्धी होने के कारण उसे समा प्रदान कर दक्षिणाप्य में किया था। ऐतिहासिक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सातवाहन-वंश में सातकर्णी नाम के कई राजे थे। इस अभिलेख का सातकर्णी सातवाहन-वंश का कौन सातकर्णी है, इस विषय में विभिन्न विद्वानों का अपना-अपना अलग मत है। डॉ० डी० सी० सरदार व मनानुमार यह सातकर्णी स्वयं गौतमीय सातकर्णी है, जिसका पुत्र वासिष्ठीय सातकर्णी रद्रदामन् का दामाद था। डॉ० रैप्सन के मतानुसार एकदासन द्वारा पराजित सातवाहन नृपति पुल्लुमावि था जो कि वासिष्ठीय सातकर्णी का भाई और उत्तराधिकारी था। डॉ० कार० सी० नडारकर ने इसे यज्ञदी सातकर्णी माना है और रद्रदामन् को बन्धा का विवाह चतुर्षण सातकर्णी से होना प्रकट किया है। श्री नीलकण्ठ जाधवी और राजगोपालाचारी ने इसे बन्धरी अभिलेख में उल्लिखित वासिष्ठीय सातकर्णी माना है। डॉ० अल्लकर ने श्री इन्हें बन्धरी अभिलेख का वासिष्ठीय सातकर्णी ही स्वीकार किया है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी और एन० एन० घोष भी इसे वासिष्ठीय सातकर्णी ही मानते हैं। ऊपर मही मत सर्वाधिक मान्य हो चला है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि महासत्रप बहम के राज्यकाल के अन्तिम भाग में अथवा उसकी मृत्यु के बाद उज्जैन के शक सत्तियों की राज्यवृद्धि गौतमीय सातकर्णी और उनके पुत्र वासिष्ठीय पुल्लुमावि के प्रभाव के बढ़ जाने से सम्भवस्थित हो गयी थी। इसीलिए रद्रदामन् को सातवाहनों के साथ घोर युद्ध करना पड़ा था और उन्हें पराजित कर वह पुनः अपने वंश की राज्यवृद्धि का प्रतिष्ठित कर सका था।

अभिलेख (पृष्ठ ३, पं० ८-९) के 'वीरयब्द ... उल्हादेन' इस वाक्यांश में स्वामिनाथों एवं वीर योधियों के साथ रद्रदामन् के युद्ध का तथा योधियों को पराजित करने का उल्लेख किया गया है। समस्त योधियों का साम्राज्य सतलुज के उत्तर और नरतुर स्टेट के विजयपुर क्षेत्र तक विस्तृत था। पूर्वी पंजाब में उनका योधेयण था जहाँ उनके यम नामों से युद्ध करने

(१२) अपरान्त—उत्तरी कोंकण, जिसकी राजधानी धूरपाख दी ।

(१३) निपाद—संभवतः पश्चिमी दिग्ध्य और सरस्वती नदी प्रदेश इसके अन्तर्गत जाते थे । इसका उत्तरेख महाभारत में भी मिलता है ।

उप्युक्त प्रदेशों पर रद्दामन् का आधिपत्य था, इस बात का संकेत टी मिलता है किन्तु अग्निनेख से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है कि रद्दामन् ने इस राज्यों को कब जीता था । संभवतः मुराट्ट, कुटुर तथा अररान्त गौतमीपुत्र के अधीन थे । ऊपर रद्दामन् ने गौतमीपुत्र अथवा उसके पुत्र पुलमावि से ही इन तीनों राज्यों को जीता था । रद्दामन् के द्वारा सिन्धु-सीबीर, के प्रदेशों पर विजय प्राप्त करना इस बात का संकेत है कि उसे कृपाजयपी कनिष्क के उत्तराधिकारियों से भी लोहा लेना पड़ा होगा और उन्हें पराजित करके ही उन राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने में वह सफल हुआ होगा ।

अग्निनेख (पृ० ३, प० २९) के “अष्टराज्यनगिच्छन्नेन” इस कथन की तुलना गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की राज्यविजय मन्त्रिणी उस नीति से की जा सकती है जिसके अन्तर्गत वह विजित राज्यों को उन्हीं के शासकों को पुनः लौटा देता था, किन्तु वे शासक निश्चित रूप से मँट देकर अपने आपको उनके अधीन मानते थे । रंप्सन ने इसका यह अर्थ समझा है कि जो प्रादेशिक शासक महान के अधीन थे, उन्हें सातवहनवटी गौतमीपुत्र ने नष्ट कर दिया था किन्तु रद्दामन् ने पुनः उन्हें अपने-अपने राज्यों में प्रतिष्ठित कर दिया । इस प्रकार हम देखते हैं कि रद्दामन् ने अपने शासन के उत्पत्तिकाल में ही कनेज राज्यों पर विजय प्राप्त कर साम्राज्य को पूर्णतया व्यवस्थित कर लिया था ।

शासन व्यवस्था—रद्दामन् एक महान् योद्धा और विजेता ही नहीं था बल्कि एक सफल और योग्य शासक भी था । अग्निनेख में यज्ञ-युव पाये जाने वाले दस्तियों से उसके मुख्यवर्षित शासन-व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जा सकती है—

(१) रद्दामन् का समस्त साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये कई राज्यों में बँटा हुआ था । उसकी राजधानी उज्जैन थी, जहाँ से समस्त साम्राज्य का शासन-सूत्र संचालित होता था ।

इस प्रकार के शासन-व्यवस्था का संकेत हमें अग्निनेख (पृ० ५, प० ८) के “वीरवानपदजनानुपहार्य पादिवेन” इस वाक्यांश से मिलता है, जिसमें

रुद्रदामन के द्वारा आनतं ओड गुराह् प्रान्त के शासक के रूप में नियुक्त सुविशास के द्वारा मुद्रचंन शील के सस्कार की घटना का उल्लेख किया गया है ।

(२) शासन को सुष्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये उसने कई अमात्यों की नियुक्ति की थी । वे अमात्य दो प्रकार के होते थे—एक मतिसचिव, और दूसरा कर्मसचिव । मतिसचिव राजा को सलाह देते थे और कर्मसचिव राज्य योजना को कार्यरूप में परिणत करते थे । इसका उल्लेख, अभिलेख (पृ० ५ के प० ६), में है—“मतिसचिवकर्मसचिवे अमात्यगुणसमुद्युतं ।”

(३) यद्यपि शासन की सबसे छोटी इकाई का निश्चिन स्वरूप क्या था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी नगर निगम, जनपद तथा पौरजानपद का उल्लेख अवश्य किया गया है (अभिलेख पृ० ३ प० ४) ।

(४) रुद्रदामन के शासन की कर-व्यवस्था बहुत व्यवस्थित और उदार थी । वह प्रजा से विशेष कर नहीं वसूल करता था । उस समय के स्वामाधिक कर्षात् अनिवार्य अथवा ‘मामान्य कर’ और विशेष कर’ के प्रकारों का उल्लेख अभिलेख (पृ० ४, प० ३) में किया गया है—“मयावत्प्रार्थं बलिचुत्कमार्गं” ।

इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि ‘बलि चुल्ह’ और ‘भाग’ वास्तविक या सामान्य कर थे जो प्रजाओं को देना पड़ता था । विहिं और ‘प्रणय’ विशेष कर के अन्तर्गत थे ।

व्यक्तित्व—अभिलेख से रुद्रदामन के व्यक्तित्व पर भी बड़ा प्रकाश पड़ता है । यह केवल एक विवेका और शासक ही नहीं था प्रत्युत जनता के सुख-दुख में भाग लेने वाला बड़ा ही दयालु प्रजापालक भी था । रुद्रदामन को इस बात का गर्व था कि उसने प्रजाओं से किसी भी प्रकार का कर बिना लिये ही अपने राज्यकोष के व्यय से मुद्रचंन शील का जीर्णोद्धार कराया था ।

मुद्रचंन शील का सस्कार कराना रुद्रदामन के राज्य की महत्त्वपूर्ण घटना थी । उस शील का सछिष्ट इतिहास निम्नलिखित है —

जुनागढ़ सर्वप्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा से उसके प्रान्तीय शासक वेदय पुत्रगुप्त ने सिचाई की दृष्टि से एक पर्वतीय नदी के जल को लेकर एक शील का निर्माण कराया । अजोक के प्रान्तीय यवन शासक गुप्तासक ने उससे नहरें निकलवायीं । उस शील का नाम मुद्रचंन था । रुद्रदामन के समय (१५० ई०) में ऊर्जम्ब पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिक्तता और पल्लविनी नाम की

नदियों में बाढ़ आने और प्रदल तूफान के कारण इस झील का बाँध टूट गया। प्रजा में हाहाकार मच गया और सभी विपश्चातों ने पन मारे।

इन्द्रादाम् ने प्रजा की मलाई को ध्यान में रख कर अपने मंत्रियों के दिगोद करने पर भी प्रान्तीय शासक कुविद्या के द्वारा अपने राज्यभर में इसका पुनर्निर्माण करवाया। सुदर्शन झील के पुनःसंस्कार सम्बन्धी इस पवित्र घटना के उल्लेख से यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि वह प्रजापालन, प्रजासुख और प्रजावर्धन के कर्तव्यों को निभाने वाला एक सफल लोकप्रिय शासक था।

उसकी श्रुति भावना बड़ी ही दृढ़ थी। उसके पवित्र निश्चय को उसके मंत्री भी नहीं दिगा सकते थे, जैसा कि (पृ० ५, पं० ७) में उल्लिखित है— 'विमुक्तमिति, प्रसन्नतराम्भम्'। प्रजा के प्रति इन्ना अनुराग था कि झील के बाँध के टूट जाने पर उसके सत्कार करने के लिये उसने प्रजा में बिना किसी प्रकार का विरोध कर लिये ही अपने राज्यकोष के धन्यों का ही उपयोग किया (दे० पृ० ४, पं० २७) 'स्वस्मात् कोशात्'।

उसमें प्रजासुखीय गुणों की सत्ता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। इसीलिये वह अग्निवेश के (पृ० २, पं० २१-पृ० ३, पं० १) 'सर्ववर्णरमिदम्य गणनयं पटित्वेन कृतेन' के अनुसार सभी जातियों के लोगों के द्वारा सहर्ष अपना राजा चुन लिया गया था। उसने न केवल प्रजासुखीय गुण ही थे अतः वह सभी प्रकार के शास्त्री के ज्ञान में निपुण और विद्विष्ट समीक्षक भी था। वह गद्य और पद्य दोनों प्रकार की काव्य रचना में निपुण और प्रजा की सुसूचित स्थापना देनेवाला था। जिसकी अभिव्यक्ति अभिनेत्र (पृ० ३, पं० २१) की "दत्तार्प-हृत्पुत्रादाविशोक्ति" से होती है। वह एक सम्राट् के लक्षणों में भी युक्त था—'परमत्तजगत्पञ्चनरैरुत्तमान्मूढिना' (पृ० ४, पं० १५)। इतना ही नहीं बल्कि उसके शासन की सुसंस्कृत व्यवस्था और उसके उदार-हृदय की हृत्पुत्रिणा का परिचय तो हमें तब मिलता है जब उसने यह धन्य में रखी थी कि मुदन्मि के अतिरिक्त अन्यत्र कभी भी यह नर-रूपा नहीं करेगा (देविदे, अभिनेत्र पृ० ३, पं० २-३) इसका उसने न केवल करने ही जीवन में बल्कि प्रजावर्ग में भी निर्वाह किया।

इसके अतिरिक्त उसके सुसंस्कृत सत्य धर्म की सबसे बड़ी विशेषता थी—सत्य के प्रति उसकी अनुरक्ति। वह एक विदेशी जब बंधक होकर भी समस्त राज्य का पोषक था, वह कि उसके पूर्वजों और उत्तरालोक सभी भाई

राजा पानो तथा प्राङ्गन साया को अधिक प्रश्रय दे रहे थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा के उद्भायक राजाओं में रुद्रदामन् का स्थान चिरस्मरणीय रहेगा। यह निर्विवाद है कि रुद्रदामन् चारवीं शत-श्रासकी में महान् था।

अभिलेख की साहित्यिक विशेषतायें

परिचय—यह महाशयप रुद्रदामन् के द्वारा मुद्रार्चन शील के जीर्णोद्धार करने की घटना के वर्णन में लिखा गया यह अभिलेख किसी अज्ञान कवि का है। क्योंकि इस अभिलेख में कहीं भी कवि का संकेत नहीं। किन्तु अभिलेख की काव्यात्मक शैली में यह प्रतीत होता है कि इसका लेखक अवश्य ही काव्यकला में कुशल एक उच्च कोटि का कवि था।

यह अभिलेख अलङ्कार गद्यकाव्य की शैली में लिखा गया है। संस्कृत वाङ्मय का अधिक अथ पद्यकाव्य में ही उपनिबद्ध है। पद्यकाव्य अपेक्षाकृत पद्यकाव्य से न्यून माना जाता है। यों गद्यसाहित्य का परिचय हमें ब्राह्मण, उपनिषद् और शास्त्रीय साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गद्य का वाङ्मयिक स्वरूप तो पद्यपि अन्धकार में ही था किन्तु १५० ई० के लगभग लिखा गया यह अभिलेख गद्यकाव्य की अन्धकार से प्रकाश में ला देता है। इस अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाना है कि पद्यकाव्य के साथ ही गद्यकाव्य का विकास भी हो रहा था और आगे के दण्डी, मुग्धु और बाण तक के काव्य के चरमोत्कर्ष में यह अभिलेख भी अपना महत्वपूर्ण एवं प्रशस्त साहित्यिक स्थान सुरक्षित रखता है। यह न केवल गद्यकाव्य के सीधे-सादे कलेवर में है अपितु अलङ्कार कलेवर में है।

इसके साथ ही कवि ने इसमें काव्य के गुणों की भी खोज की है। अतः काव्य के विकास पथ में यह एक प्रशस्त प्रकाश का कार्य करता है।

कवि ने रुद्रदामन् की काव्य के स्फुट-अमुर आदि गुणों और अलंकारों से सहित गद्य और पद्य काव्य के प्रणयन में निरुप कठलाया है—“स्फुटलपुनपुन-विरलान्तरुन्मसमयोदारात्तद्वदपथ न” (पृ० ४, पं० १४)। इस कथन से यह स्पष्ट है कि उस समय अर्थात् द्वितीय शताब्दी में महाकाव्य का पूर्ण विकास हो चुका था। “अलङ्कार” शब्द से कविता के अलंकारों को बताने वाले अलङ्कार-शास्त्र से लेखक के पूर्ण परिचय का परिचान होता है। इससे साधारण काव्य से महाकाव्यों के विकास का क्रम भी सामने आ जाता है।

रोति या शैली—इसमें गद्यकाव्य के अनुकूल ही समासयुक्त पदों का प्रयोग किया गया है। “ओजः समासभूयस्त्वमेनद्गद्यस्य जीविनम्।” औरगुणविशिष्ट

समासबहुलता गद्यकाव्य का प्राण है। कवि ने यद्यपि समासों का प्रयोग बहुतायत रूप से किया है किन्तु वे समासयुक्त पद छोटे-छोटे एवं प्रवाहपूर्ण हैं। अतः एव उसमें वेदमयी रीति का समावेश मिलता है। हाँ, वर्ण्य विषय के अनुकूल वही-वही गोडो-बन्ध भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। यथा सुवर्णसिक्ता और पलाशिनी नदियों की बाढ़ के वेग से तथा प्रचण्ड वायु के झोंके से पहाड़ के शिखरों, वृक्षों और अट्टालिकाओं के विध्वंस और नदी-तट पर फँके गये पत्थरों, पेड़ों और शाखियों के वर्णन में अोजमयी भाषा में गोडो रीति का आश्रय लेता है—“गिरिशिखरतटटाट्टालिको ” (पृ० १, पं० १८-२१)।

अभिलेख के प्रारम्भ में २३ अक्षरोंवाले नौ छन्दों का समास मिलता है। रघुदामन के वर्णन में तो समास की दीर्घता देखने ही योग्य है। उसके वर्णन में ४० अक्षरों से युक्त १७ छन्दों के समास का प्रयोग किया गया है। वाक्यों की लम्बाई समासों की लम्बाई से बाड़ी लम्बाई है। एक वाक्य की लम्बाई तो २३ छप है (एक छन्द से अभिप्राय २३ अक्षरों से होता है)।

२३ अक्षरोंवाले नौ छन्दों के समास का उदाहरण—“मृत्तिकोरतविस्तार” “.....पालीकत्वात्” (पृ० १, पं० २)।

अलंकार—कलकार में उद्भाटकार और कर्पालकार दोनों का प्रयोग किया गया है। उद्भाटकारों में अनुवातों के प्रयोग अधिक मिलते हैं—विटैरकर वर्णानुवात के। वही-वही पर पर, पदाद्य और वर्णों की कङ्कति हुई है।

पदावृत्ति का उदाहरण—कान्निपिनापा विपिनापान्।

पदाद्य की कङ्कति का उदाहरण—पारण धारण । दिनेयानान् यौने-यानान्।

वर्णों की कङ्कति का उदाहरण—आर्षेण आर्षेण । गद्य पद्य । नाम्ना दान्ना । अन्त्यन्तान्नाः रघुदामन ।

“गिरिशिखरतटटाट्टालिकोपतन्मद्धारसरणोच्चनिधमिन्ना.....” इस मूलश्लोक पद में वर्णानुवातों से स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों की कङ्कति कृदलान्पूर्वक की गयी है।

कर्पालकार का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। पूरे अभिलेख में केवल दो बार उद्भाटकार का और एक बार उद्भाटलकार का प्रयोग हुआ है। श्लेष का प्रयोग भी एक स्थान में हुआ है, पर अत्यल्प प्रमाण ही है।

उपनामकार का उदाहरण हमें "पर्वतप्रतिस्पर्धि" इस शब्द-समूह में मिलता है। इन्हें दुर्दान्त शील के बाँध की दोवार की तुलना पर्वत के अग्रभाग से की गयी है। उपनामकार का दूसरा उदाहरण—"मधुपन्वहन्म्" इस पद में हार पद जाने के कारण सारा पानी निकल जाने से शील की उपना मधुपदेश से की गयी है।

चन्द्रमालकार का उदाहरण होने "पर्वन्नेन एकान्वनृतायानिव पृथिव्या इत्यपान्" में अत्यधिक बर्बा से पृथिवी को समुद्र के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

"अतिमृगं दुर्दान्तम्" में श्लेष अनकार को खगने का प्रयास तो किया गया है किन्तु वह अधिक सुन्दर नहीं हो पाया है।

भाषा—इस अमिनेय की भाषा साधारण बोलचाल की है। इसमें प्रारम्भ से बन्द तक प्रवाह पाया जाता है। इसके चरणों पर प्रोक्षित भाषा का प्रभाव शीघ्र पड़ता है—"विशदुत्तराणि" के स्थान पर—"वीरदुत्तराणि" के प्रयोग में प्रकृत का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके साथ ही भाषा में पौराणिक काव्यशैली की सरलता भी पाई जाती है।

गुणों का समन्वय—परवर्ती अक्षरसास्त्र और काव्यों में मिलनेवाले कविता के अनेक गुणों का नामनिर्देश भी किया गया है—"स्फुट-लघुमधुरोत्तर-विशदम्".....। अमिनेय में निर्दिष्ट इन गुणों की समझ हम दार्ढी के गुणों से कर सकते हैं। दार्ढी ने काव्यादर्श में काव्य के—

‘श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यतिरेकारत्वनोज्ज्वलाग्निनमाधमः ।’

दस गुणों का निर्देश किया गया है। हम अमिनेय "स्फुटता" नामक गुण को दार्ढी के 'अर्थव्यतिरेक' से, "लघुता" को 'प्रसाद' से मधुरता को 'माधुर्य' से, 'विशद' को ओजोभूष से और शब्द को 'काव्य' नामक गुण से समझ कर सकते हैं।

अमिनेय के इस अंश से उस समय तक अस्तित्व में आये अनकार-सास्त्र पर बहुत प्रकाश पड़ता है और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय दशमो तक काव्य के दस और पद दो भाग हो चुके थे। सप्तम्य के गुण-बोधक अमिनेय के ये शब्दनिर्दिष्ट रूप से परिभाषित हैं और किसी मान्य शब्दोपलक्षण को और स्पष्ट सेवक करते हैं।

वर्णन ऊँची कोटि का नहीं होकर भी जलाशय के चित्रण में मनोरमता एवं हृदयहारिता है।

इस अमिलेख में शकशासक को गद्य-पद्य-काव्य-रचना में निपुण कहना इस बात का प्रतीक है कि गद्यकाव्य उस समय अपने पूर्ण विकसित अवस्था में था और उसका प्रभाव विद्वन्मण्डली में इतना अधिक बढ रहा था कि एक विदेशी शासक भी उसके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। यह प्रवृत्ति विदेशी आक्रमण के समय सभ्यता के ह्रास होने की बात का सम्मन कर देती है।

(१) त्रुटियाँ—इस अमिलेख में क्रियावाचक उभों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पूरे अमिलेख में केवल २ क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। “बर्तते” इसका प्रयोग पृ० १ की चौथी पक्ति में, तथा “आसीन्” का प्रयोग पृ० १ की २१ वीं और पृ० २ की २री पक्ति में हुआ है। “आसीन्” इस क्रिया का प्रयोग दो बार हुआ है। इस प्रकार कहने की दो क्रियाओं का प्रयोग ३ बार हुआ है किन्तु वे क्रियाएँ केवल “बर्तते” और “आसीन्” ये दो ही हैं। केवल “आसीन्” क्रिया का ही दो बार प्रयोग हुआ है। समुक्त गद्य काव्य में समानबहुत दीर्घवाक्य के कारण अन्यत्र भी क्रिया की कमी देखी जाती है।

(२) व्याकरण की अनुद्विधा—“विषयाणा पतिना” में “पतिना” शब्द का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से गलत है। क्योंकि पति शब्द को समास ही में “धि” सज्ञा होती है (“पति. समास एव”—अष्टाध्यायी १।४।८)। इसीलिये समस्त पति शब्द का ही रूप तृतीया विभक्ति में “पतिना” (“आङो नाञ्स्त्रियाम्”—अष्टाध्यायी १।३। १२०, वे: परस्पर आङो ना व्यान् अस्त्रियाम्। “आङ्” इति ‘टा’ सज्ञा प्राचाम्) है अम्रमस्त में “पत्या” ही होता है। पाणिनि से पूर्ववैदिक और पौराणिक भाषा में इस तरह की प्रवृत्ति पायी जाती है। अतः गद्य में भाषा की दृष्टि से पौराणिक शैली को अपनाया गया है।

इसी प्रकार बारक की अनुद्विधा भी “अन्यत्र संग्रामेयु” में पायी जाती है। यहाँ पर बारक की दृष्टि से (“अन्यादिदितरर्तं दिक्पुन्दाश्चूत्तरपदानाहिवुक्तं” अष्टाध्यायी २। ३। २९ इस सूत्र से “अन्य” शब्द के ससम्यन्त रूप “अन्यत्र” के योग में पचमी हो जायगी। अतः) “अन्यत्र संग्रामेयुः” होना चाहिए।

साहित्यिक त्रुटि भी हमें “पर्जन्येन एकार्णवभूनापामिव पृथिव्याम् कृतायाम्” में मिलती है। क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग गद्यकाव्य में नहीं

निष्ठा है। साथ ही इसमें “भूनायाम्” के बाद पुन “कृतायाम्” यह छन्द भी अधिक प्रयुक्त हो गया है। अतः ‘अधिकपदता’ दोष भी है।

‘अतिभूषणम् दुर्दर्शनम्’, में श्लेष अलंकार का असफल प्रयोग करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार इसमें बहुत से दोष भी पाये जाते हैं। इन गुण-दोषों की कानालोचना के बाद भी यह अभिलेख अपनी छैली की प्रवाहपूर्ण रोचकता, भावप्रकाश और हृदयप्राप्तता के कारण सहृदयों को एक लघु गद्यकाव्य का आनन्दानन्द कराता है। इस प्रकार छंदों में इस अभिलेख की काव्यगत विशेषताओं की मूर्छा इस प्रकार दी जा सकती है :—

- (१) सम्पूर्ण अभिलेख गद्यछैली में लिखा गया है।
- (२) प्रधानतया बंदीयों रीति की विशेषताओं का समावेश किया गया है।
- (३) श्रियाओं का अल्पप्रयोग हुआ है।
- (४) साधारण छन्दों के माध्यम से ही विषय की समझाने का प्रयास किया गया है
- (५) उद्देश्य साधारण है किन्तु फिर भी भाषा में प्रवाह है।
- (६) कवि की वर्णन-शक्ति और प्रतिभा का आभास मिल रहा है।
- (७) अलंकारों में ध्वन्यालंकार और अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है। विशेषकर ‘अनुपास’ और ‘उपमा’लंकार का।
- (८) अभिलेख के लेखक का नाम निर्दिष्ट नहीं है किन्तु छैली की विविधता से उच्च कोटि का अनुमान होता है।
- (९) प्रारम्भ से अन्त तक सरल और समासों का प्रयोग हुआ है।
- (१०) अलंकारशाल पर प्रकाश पड़ता है।
- (११) लघु गद्यकाव्य का नमूना है।

टिप्पणी

गिरिनगर—काठियावाड में आधुनिक नगर जुनागढ़ का प्राचीन नाम।

मीठविधान—डॉ० मगवान साल, इन्दु जी तथा बूल्हर के मतानुसार मीठ का अर्थ ‘गोमूत्र’ है। किन्तु बिल्हार्न के मतानुसार मीठविधान का अर्थ है— कोई ऐसी वस्तु जिससे जल का विकास हो। उनके अनुसार ‘मीठ’ पानी के ‘मील’ का समानार्थक है, जिसका अर्थ गन्दी होता है। इसी अर्थ में ‘सतिव-

विस्तर' में 'मोडगिरि' गोबर के डेर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ पर मोडविधान का अर्थ यह प्रतीत होता है—शील के लिये ऐसा प्रबन्ध, जिससे उनमें गन्दगी न आ सके।

महक्षत्रप—यह राजाओं के प्रान्तीय शासकों की उपाधि। कालान्तर में यह राजागण स्वतन्त्र हो गये तथा हिन्दूधर्म को ग्रहण कर लिये। शिलालेखों एवं मुद्राओं के अतिरिक्त इस शब्द का उल्लेख सस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता। इसका मूल-फारसी "क्षत्रप" (शासक) है। सस्कृत के कौशकार के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'क्षत्र पाति इति क्षत्रप' इस प्रकार की जाती है। प्रायः 'क्षत्रप' शब्द ईरानियों की उपाधि 'क्षत्रपावन' (प्रान्तीय शासक) से लिया गया मालूम पड़ता है।

क्षत्रप व्यवस्था में यह विशेषता पायी जाती थी कि—प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप हुआ करते थे। एक महाक्षत्रप और दूसरा क्षत्रप, जो प्रायः महाक्षत्रप का ही पुत्र और उत्तराधिकारी होता था। इनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का था, जैसा किसी प्रान्तीय अधिकारी का एक समय एक ही अथवा मिश्र स्थानों से शासन करनेवाले राजा और युवराज का। भारत के मिश्र प्रदेशों में ऐसे कई परक्षत्रप-राजवंश थे जिन्हें सुविधानुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है।

१—तसशिला और मथुरा के उत्तरी क्षत्रप।

२—तथा महाराष्ट्र और उज्जैन के पश्चिमी क्षत्रप।

महाक्षत्रप रुद्रदामन का सम्बन्ध उज्जैन के पश्चिम क्षत्रपों से था।

तुपास्फ—स्वरूप की दृष्टि से तो यह शब्द फारसी जान पड़ता है। किन्तु यह कोई यूनानी शब्दक था, जिसने फारसी नाम या उपाधि ग्रहण कर ली थी। संभवतः यह अशोक की कर देने वाला शासक रहा होगा।

पाली—तटवन्ध।

सेनुवन्ध—बाँध की बनावट।

प्रशाली—पानी बहाने की नाली।

राष्ट्रिय—जिला या प्रान्त का शासक (राष्ट्रम् अधिकृत राष्ट्रिय)।

आवरारवन्धि—डॉ० मशरकर के अनुसार यह एक ही शब्द है। इसका अर्थ है मालवा। क्योंकि इसका विशेषण 'पूर्वार्ध' है जिससे पूर्वी और पश्चिमी का बोध होता है। न कि नगवान लात, इन्दु जी और रेप्पन के मतानुसार पूर्वी आकर तथा पश्चिमी अवन्धि।

वर्तन्ति उज्जनी का दूसरा नाम है। आकर समभवत प्राचीन नगर "आगर" (उज्जनी से उत्तर-पूर्व ४० मील) है। वहाँ से अगरवाल वंश उत्पन्न कहे गये हैं।

वनूर—नर्मदा नदी के मुहाने का प्रदेश जिसका राजधानी माहिष्मती थी, जो मध्य प्रदेश के आधुनिक मान्धाता से अभिन्न मानी जाती है।

नीवत—इस स्थान का ठीक पता नहीं है, किन्तु समभवत यह निभार, नन्दा और उत्तरी गुजरात के बीच का प्रदेश, जिसमें आधुनिक 'बाँसवाडा' पुरापुर और अन्य छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे, हो सकता है। "नीवज्जन-पदो देश" (अमरकोश)।

आनर्त—आधुनिक गुजरात का उत्तरी भाग, जिसका मुख नगर आनर्त-पुर या आनन्दपुर (वर्तमान बहोदा राज्य के काही प्रान्त में बाढ नगर) था। कुछ लोगों के अनुसार उत्तरी काठियावाड, जिसकी राजधानी द्वारका थी, उससे इसका एकता की गयी है।

श्वभ्र—रैखन के मतानुसार साबरमती के किनारे का प्रदेश अर्थात् गुजरात। यह आनर्त और सौराष्ट्र का अर्ध उत्तरी और दक्षिणी काठिया-वाड होगा।

सौवीर—कुछ विद्वान् सिन्धु-सौवीर को एक ही चन्द मानकर सिन्ध और गुजरात के प्रदेश को समझे हैं।

कुकुर—डॉ० रामरुण मझारकर के मतानुसार राजपूताना का वह भाग जिसे ह्वनसांग ने कि-वे-लो कहा है। डा० भगवान् लाल और इन्दुजी के मतानुसार पूर्वी राजस्थान। डॉ० आर० मझारकर के मत से आधुनिक गुजरात, जो गौडमी-पुत्र के नामिकवाले मुहालेख के अनुसार अपरान्त से अभिन्न है।

अपरान्त—गौडमापुत्र और पुलुमादि के समकालीन राम के उपोत्पिपी टातेर्मा के अनुसार अपरान्त चार भागों में बँटा था। दो समुद्र के किनारे वर्तमान पाना और कोलावा में तथा दो रत्नगिरि और उत्तर कनाडा जिलों से सञ्चल थे। आन्तरिक भागों में गोशवरी के ऊपरी भाग से सिंचित प्रदेश तथा बम्बई के कन्नड भागी जिले सम्मिलित थे। महामारत तथा मार्कण्डेय पुराण में भी इसी सम्पूर्ण भू-भाग का नाम अपरान्त कहा गया है। किन्तु रघुदामन् द्वारा अधिवृत अपरान्त में माही तथा दमनगण के बीच का प्रान्त जान पड़ता है, क्योंकि उन दिनों उत्तरी कौश्य आन्ध्र राजाओं के अधिकार में था।

योधेय—ये लडाकू जातियाँ थीं, जिनका उल्लेख वैयाकरण पाणिनि ने भी किया है। योधेय लोग बहावलपुर राज्य के आसपास रहते थे। मालवों के समान इनका भी गणराज्य था। “योधेयगणस्य जय” इससे अंकित अनेक गीत चात्रमुद्रायें गुप्ताक्षरों में अंकित तृतीय शताब्दी में पायी गयी हैं।

इस जाति को समुद्रगुप्त ने भी पराजित किया था। देखिये मरठपुर राज्य के विजयगढ नामक स्थान पर तृतीय शताब्दी का किसी योधेय राजा का प्राप्त एक खडित शिलालेख।

पह्लव—बिस्ती के मत से पह्लव लोग फारस से आने वाले थे जो बाद में बौद्ध हो गये किन्तु अन्य मत से ये भारत के आदि-निवासी थे जो पहले उत्तरी भारत के उस प्रान्त में रहते थे, जिस पर आग्नेयवध का शासन था, किन्तु आग्नेयवधों द्वारा निष्कासित होकर वे काजीवरम के पास बस गये और उन्होंने यद्यम्बी पल्लव वध की स्थापना की।

सुराष्ट्र—दक्षिण काठियावाड, जिसकी राजधानी गिरिनगर है।

मरु—मारवाड, राजपूताने का रेगिस्तान।

निषाद—पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाडियाँ।

यथार्थहस्तोच्छ्रय—

“तत्रासीन स्थितो वाअपि पाणिमुच्यम्यदक्षिणम्।

विनीतवेधामरण पश्येत् कर्मणि कर्षिणाम्॥

(मनु० ८-२)

विष्टि—बेगार

प्रणयक्रिया—श्रमदान अथवा उपहार।

(२) महाराजचन्द्रस्य मेहरौली-लौहस्तम्भलेखः

यस्योद्धरणं प्रनीपमुरमा शत्रून् समेत्यागतान्
वङ्गेष्वाहवर्तितनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिभुंजे ।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन ममरे सिन्धोजिता बाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यने जलनिधिर्वीर्यानिर्लक्ष्ण ॥ १ ॥

बंगाल प्रदेश में एक साथ मिलकर आक्रमण करने के लिये आये हुए शत्रुओं को समर-भूमि में बलस्थल के बल पीछे ढरलते हुए जिस (चन्द्र) की मुखा पर तलवार से घात लिखा गया अर्थात् दुश्मनों की तलवार के प्रहार में लगी घाव जिसकी मुखा पर कीर्ति पक्ति कं समान लग रही थी । जिसने सिन्धु नदी की सात घाटाओं को पार कर बाह्लीक देश को जीता । जिसके प्रतापरूपी पवन से दक्षिण समुद्र आज भी सुशोभित हो रहा है ॥ १ ॥

स्त्रिभस्मेव विमुञ्च्य या नरपतेर्गमाश्रितस्येनरा
मूर्त्या कर्मजितावनी गनवत कीर्त्या म्यितस्य क्षिती
शान्तम्येव महावने हुनमुजो यस्य प्रनापो महा-
प्राद्याप्युत्पृजति प्रगाशितरिपोर्यलस्य शेष क्षिनिम् ॥ २ ॥

जो बहुत दिनों तक पृथ्वी के मार को बहन करते-कगते चके हुए के समान उसे छोड़कर दूसरे लोक अर्थात् स्वर्ग चला गया है । जो पापिव शरीर से अपने मुकुटों द्वारा स्वर्गलोक को जीतने के बाद वहाँ पहुँचकर भी अपने यश शरीर से पृथ्वी पर निवास करता है । विशाल कानन में शान्त हुई दावाग्नि के समान गन्धर्वों की विनष्ट करनेवाले जिस (चन्द्र) के प्रचलित का स्मारक रूप महान् प्रताप आज भी इस भूगण्डल को नहीं छोड़ता है ॥ २ ॥

प्राप्तेन स्वमुजाजित च मुचिर चंकाधिराज्य क्षिती
चन्द्राह्नेन समग्रचन्द्रसदृशी ववत्रयिय विभ्रता ।
तेनाय प्रणिधाय भूमिपतिना घावेन विष्णो मर्ति
प्रान्दुर्विष्णुपदे गिरी भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापित ॥ ३ ॥

दिसने इस वस्तु-परा पर अपने मुजबल से उपार्जित एकाधिनय का बहुत दिनों तक उपभोग किया, पूर्णचन्द्र व समान अपनी मुक्त-शाना का धारा करने-वाले और 'चन्द्र' नाम से प्रसिद्ध उस शूद्र हृदय राजा ने विष्णु भगवान् में थड़ा रखकर 'विष्णुपद' नाम के पर्वत पर भगवान् विष्णु की इस उन्नत धरा की स्थापना की ॥ ३ ॥

अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

दिल्ली में ९ मील दक्षिण महुली नाम के एक गाँव में विद्यमान एक चौह-स्तम्भ पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें विष्णु सत्सुत छन्दों तथा पाँचवीं शता ई० की सुकाशान वर्णनाम में 'चन्द्र' नाम के किसी सम्राट् का विजय-यात्रा का वृत्तान्त मिलता है। अभिलेख में लिखि तथा 'चन्द्र' राजा के वंश का उल्लेख नहीं होने के कारण पुरातन्त्र-वेत्ताओं में काफी मतभेद है कि प्रसन्नि का दिग्विजय 'चन्द्र' कौन है? इस लघु तब में केवल मुख्य रूप से इन्ना ही बातों का सबल मिलता है कि चन्द्र नामक किया राजा ने बङ्गाल में शत्रुओं की पराजित किया और सिन्धु के सम मुक्तों कथन सत-शालाओं का धार कर बाङ्गाली पर आक्रमण करके उन्हें भी पराजित किया और अरब बाहुबल से पृथ्वी का 'एकाधिनय' प्राप्त करने दीर्घकाल तक उसका उपभोग किया। अभिलेख के 'विष्णु-पद' विष्णुपद नाम के पर्वत पर, जो सम्भवतः दिल्ली की पहली का नाम था विष्णुध्वज की स्थापना की स्मृति कराना था।

अभिलेख में निहित चन्द्र के निर्धारण में मुख्यतः ऐतिहासिकों के निम्नलिखित विचार दृष्टिगोचर होते हैं।

(क) "चन्द्र" = गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम।

इस अभिलेख के 'चन्द्र' से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम के समीकरण में आर० जी० बसाव, पन्ना तथा डॉक्टर कृष्णस्वामी आयर का मत है कि गुप्त सम्राट् का सर्वप्रथम महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम था। अभिलेख में वर्णित "प्रसन्न स्वमुद्राजित च मुचिर चैकाधिराज्य शित्री" यह उक्ति इसकी पुष्टि में पर्याप्त है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में बंगाल का निर्देश नहीं होने का उपदोष के लोप इस तरह करते हैं कि—चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही बंगाल आदि को जीत लिया था, जिससे समुद्रगुप्त को, चण्डे, चेतने, को, अस्तित्व नहीं, पक्षः १।

फ्रीड महोदय का इस एकीकरण में यह तर्क है कि इस अभिलेख की लिखा-
वट प्रमाण की प्रगति में पूर्व की प्रतीति होती है।

हिन्दु उपर्युक्त विचारधाराओं की आलोचना इस प्रकार की जाती है :—

मुगलकालीन लेख तथा मिक्को के आधार पर यह निश्चित रूप में जाना जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का राजकाल स्वल्प ही था (समभव. ई० ३२० से ३३५ ई०)। इसलिसे प्रस्तुत अभिलेख के 'एकाधिकाराज्य' का चन्द्रगुप्त प्रथम के लिए प्रयोग सम्भव नहीं जान पड़ता। "ममुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने बगाल, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त किया था" इस बात का ऐति-
हासिक प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। वस्तुतः सर्वप्रथम विजय-यात्रा करने का श्रेय तो समुद्रगुप्त को ही मिला है। पुराणों में वर्णित 'अनुगङ्ग प्रमाण ४' से तथा प्रमाण-व्यक्ति से यह जान होता है कि समुद्रगुप्त के पिता का राज पाटलिपुत्र से प्रयाग के बीच गङ्गा की घाटी में सीमित था। अग्निप्रेष का 'चन्द्र' सिन्धु नदी को पार कर बाह्यीक को भी पराजित करने वाला है। अतः इस समीकरण में चन्द्रगुप्त प्रथम की अधिकार-सीमा सिन्धु तक मानना पड़ेगा किन्तु इस बात में कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। अतः इस अभिलेख के 'चन्द्र' की समजा चन्द्रगुप्त प्रथम से करना सर्वथा असंगत है।

(४) पण्डित हरप्रसाद शस्त्री और राखाल दास बंनर्जी इस अभिलेख के 'चन्द्र' को बगाल में शानोमज के पास स्थित मुमुनियों शिलालेख का चन्द्रवर्मन मानते हैं, किन्तु इस समीकरण में तथ्यपूर्ण प्रमाण नहीं है, अतः यह भी संशयपूर्ण ही है। मुमुनियों शिलालेख के चन्द्रवर्मन के विषय में विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि इसकी समजा प्रमाण-स्तम्भ में निर्दिष्ट चन्द्रवर्मन से है जो बर्मावर्ष के अन्त्यान्व राजाओं के माप समुद्रगुप्त द्वारा पराजित हुआ था। साथ ही मुमुनियों के शिलालेख में चन्द्रवर्मन 'महाराजा' कहा गया है, जब कि मेहरोली में 'चन्द्र' के लिसे 'अधिराज' उच्च प्रमुख हुआ है। अतः अभिलेख के 'चन्द्र' की समजा चन्द्रवर्मन में सम्भव नहीं।

(५) विन्सेट स्मिथ, दांडेकर और शिन्धुचन्द्र सरकार प्रभृति विद्वान् 'चन्द्र' को निश्चित रूप से मुगल सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विजयनादित्य मानते हैं। इस समीकरण में निम्नलिखित बातों को प्रमाण कोटि में लाया जाता है :—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम अपना उपनाम केवल 'चन्द्र' के रूप में उसके दरि के सिक्कों में भी मिलता है। जिस प्रकार विजयनादित्य के लिसे विजय

निर उड़ाया हो, जिसको शान्त करना चन्द्रगुप्त द्वितीय को आवश्यक हो गया होगा, जिसका उल्लेख इस अभिलेख में मिलता है।

इस पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत अभिलेख के 'चन्द्र' को सम्राट् गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही करना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के निधनोपरान्त अभिलेख के उल्लेख होने का स्पष्ट संकेत मिलने में डॉक्टर सरकार का यह अनुमान बिल्कुल सही जान पड़ता है कि मृत्यु समनवः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने जीवन्-वाक्य की अन्तिम बेला में गङ्गावासी या और उस पर अपने पिता के दिवसों में हुए कुनारगुप्त प्रथम ने लेख उल्लेख करा दिया।

मनु, उर्वरुक प्रमाणों आधार पर चन्द्रगुप्त और 'चन्द्र' के समीकरण की सन्तुष्टि से इस अभिलेख के द्वारा दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य निकल पड़ते हैं :-

(१) बसाव ने जो भारत के शीर्षकानीन इतिहास में निरन्तर विद्रोह का एक सामाजिक स्थान रखा है, चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद्ध करना फिर उठाया या फिर उसके द्वारा कुचल दिया गया।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में एको और कुयामों की बर्बाद-सुची शक्ति को नष्ट कर दिया जिसे अनुदगुप्त अद्वय ही नष्ट कर सफा पा। 'एलेन' के अनुसार बाह्यीकों का प्रयोग सामान्यतया विदेशी आक्रमणकारियों के वर्ष में किया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा विष्णुपद पर्वत पर विष्णुध्वज को प्रतिष्ठित करने का रहस्य इस ऐतिहासिक तथ्य से भी सम्बन्धित जान पड़ता है कि जब रामगुप्त गङ्गा के द्वारा कहीं हिमालय दुर्ग में घेर दिया गया और चन्द्रगुप्त अपनी महारानी शुभदेवी को समनय कर अनयो जान बचाने की बात स्वीकार की तो इस अनुमान को सहन नहीं कर रामगुप्त का छोटा भाई 'चन्द्रगुप्त' द्वितीय शुभदेवी के देश में मैनिकों उचित एक धिक्कर में गया और वहीं पर अपने सप्रेमता सह-वर्षों के साथ शकुराज को मारकर अन्य वंश नदी तटवर्ती शकुराजों को पराजित किया। सम्भवतः जिस हिमालय दुर्ग में 'चन्द्रगुप्त' ने सर्वप्रथम शकुराज को हराया की वही विष्णुपद नामक पर्वत है जहाँ वहीं पर अपनी एक-विषय के स्मारक के रूप में विष्णु ध्वज की प्रतिष्ठा की होगी।

अमिलेख का साहित्यिक महत्त्व

यद्यपि इस लघुकाव्य अमिलेख में किसी साहित्यिक वैशिष्ट्य का अन्वेषण तो प्रयाससाम्य ही होगा तथापि 'यदुपलब्ध तदेव सम्भावनीयम्' इस न्याय से हमें उस अंश का भी विवेचन अपेक्षित ही है। केवल तीन श्लोकों में कवि ने धातुलविश्रीरित छन्द में 'चन्द्र' की विजय-यात्रा का वर्णन किया है। यह छन्द संस्कृत पद्य-भाषा का वह सेतु है जिसके सहारे किसी भी भाषा या रस को उतारा जा सकता है। इस प्रयुक्ति का अज्ञात कवि राजविषयक अपने रतिभाव को इस छन्द के माध्यम से व्यक्त करने में सफल नजर आता है।

जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है उसमें यद्यपि कवि की विशेष रसि नहीं प्रतीत होती फिर भी सीनो पद्यों में रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा जैसे अलंकारों की हलकी मनोगम छाँकी तो मिल ही जाती है। प्रथम श्लोक में कवि ने राजा के पराक्रम पर वायु का आरोप किया है 'वीर्यानिर्लंदंक्षिण'। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में "क्षिप्रस्मेव विमृश्य वा नरपते" इस उक्ति में राजा के दिव्यगुण होने की कवि इस प्रकार उत्प्रेक्षा करता है मानो पृथिवी का भार सहन करते-करते थक कर दूसरी भूमि को (स्वर्ग को) चला गया है। इसी श्लोक में "धान्तस्मेव महावने हृत्पुत्रो यस्य प्रतापो महाद्" इस तृतीय वर्ण में कवि ने राजा के श्रेष्ठ से धान्त हुए धनुर्धरों की उपमा महावन की उस आग से दी है जो उसे जला कर धान्त हो जाती है। यहाँ पर राजा के श्रेष्ठ की उपमा वनाग्नि से भी दी जा सकती है। इस प्रकार इस श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा की सृष्टि देखने ही योग्य है। अन्तिम श्लोक में भी "समप्रचण्डसहस्रं वक्त्रयिय बिभ्रता" में राजा के मुख की शोभा की उपमा पूर्ण चन्द्रमा से दी गयी है। इस प्रकार कवि अलंकार-योजना का निर्वाह कर अलंकार-शास्त्र की भक्ति का भी परिचय देता नजर आता है। जहाँ तक गुण और रीति की बात है उसमें कवि प्रसाद गुण और पांचाली रीति के छोरों को झूटा हुआ नजर आता है। दिग्बज्र का वर्णन-प्रसंग होने पर भी कवि ने सरल तथा असमस्त या लघु पदों का प्रयोग कर पद्य को प्रवाहमय बनाने का सफल प्रयास किया है। राजा का पुण्यकर्म के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करके भी यश-शरीर से पृथिवी पर विद्यमान रहना और धनु को विनाश के गर्त में डबेल कर भी उसके प्रताप का उसके कृत्यों के स्मारक रूप में पृथिवी को नहीं छोड़ना, ये दोनों उक्ति-वैचित्र्य सहृदय के मानस-फल की छृ सा लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस छोटे से काव्य बलेवर

मे मी कवि ने अपनी काव्यप्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। केवल अभिलेख ने अन्तिम भाग में 'प्रागुः' के स्थान में 'प्रागु' यह पाठ चिन्तनीय है क्योंकि नकार के स्थान में अनुस्वार को ही औचित्य प्राप्त है। प्रागुः का व्युत्पत्ति-लम्प्य अर्थ है—प्रकृष्टा अश्वो यस्य असौ प्रागुः। यहाँ पर अश्व शब्द अवयव-वाची है। हो सकता है कि अपने मूल रूप में अनुस्वार न ही पाठ रहा हो बाद में यान्त्रिक या अन्य किसी कारण से नकार का पाठ हो गया है।

टिप्पणी

वाह्लिका.—इतिहास-वेत्ताओं में इस शब्द के उच्चारण में मतभेद है। कुछ लोग 'वाह्लीक' कुछ 'वाह्लीक' और कुछ 'वाह्लिक' कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि मूल रूप में 'वाह्लिक' नहीं 'वाह्लीक' पाठ है किन्तु इस शब्द में छन्द के अनुरोध से ह्रस्व होकर 'वाह्लिक' हो गया है। यही युक्तिसंगत जान पड़ता है।

कुछ ऐतिहासिक 'वाह्लीक' शब्द का अर्थ आधुनिक 'बल्स' देश का प्राचीन नाम करते हैं तो कुछ लोग पञ्जाब के रहनेवाले जाति विशेष, जिनका निवास-स्थान आधुनिक बंदिद्या या बल्स कहते हैं। यही मत उचित प्रतीत होता है। देखिये—

“पञ्चानां सिन्धुपञ्चाना नदीना येऽन्तरे स्थिताः।

साद् धर्मबाह्यान्नुचीद् वाहीकानपि वज्रयेद् ॥”

(महाभारत)

सिन्धोः सप्तमुखानि—क्योंकि निम्नलिखित सात नदियों के मार्ग से समुद्र जल का आवाहन करता है, अतः मुँह के समान होने से इन्हें 'मुखानि' कहा गया है।

इन सातों के ये नाम हैं—सतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा, वितस्ता, सिन्धु और कुम्भ।

दक्षिणः जलनिधिः—इस शब्द से कुमायौ तीर्थ और सिंहनद्वीप से दक्षिण के सागर को, जिसे आजकल भारतीय महासागर कहा जाता है, संकेतित किया गया है।

मुचिरं—इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि—वितृप्त साम्राज्य को प्राप्त करने के लिये दीर्घकाल तक आचार करना पड़ा। चन्द्रगुप्त प्रथम को बाकायों के विरुद्ध बड़े लम्बे समय तक मोर्चा लेना पड़ा था। इन बाकायों की शक्ति बड़ी तेज़ी से पश्चिम में बढ़ती जा रही थी, सम्भवतः साम्राज्य-विस्तार के आकांक्षी क्षत्रियों के राजपुरुषों की प्रतिक्रिया में।

धायेन—कुछ लोग इसके स्थान में 'धायेन' पढ़ते हैं किन्तु प्रामाणिक पुरातत्त्ववेत्ता लोग "धायेन" को ही सही मानते हैं। "धाव" शब्द के भी दो अर्थ विद्ये जाते हैं—कुछ विद्वान् तो इसे महाराज 'चन्द्र' का दूसरा नाम कहते हैं। किन्तु डाक्टर आदर इनका अर्थ करते हैं। "पवित्र विचारधारा" और इसे 'भूमिपतिता' के विरोध के रूप में प्रयुक्त मानते हैं। यहाँ मत्र मुक्तिपत्र भी है।

विष्णुपदे गिरौ—नावान् विष्णु के पदचिह्नों से अंकित पर्वत पर। यह स्थान कुरुक्षेत्र के समीप ही है। देखिये—

"एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।

एषा नदी विष्णो नदी परमजावनी" ॥

(महानारत)



(३) कुमारगुप्तस्य मन्दसौर (दशपुर) शिलालेखः

(मालव संवत् ५२९)

सिद्धम् ।

यो वृत्त्ययमुपास्यते मुरगणैः सिद्धैश्च सिद्धार्थिभि-
र्धर्मानैकाग्रपरं विधेयविषयेर्मोक्षार्थिभिर्योगिभिः ।
भक्त्या तोव्रतपोधनैश्च मुनिभिः शापप्रसादक्षम-
हेतुर्गो जगतः क्षयाम्युदययोः पायात् स वो भास्कर ॥ १ ॥

सिद्धि हो ।

मगवान सूर्य आप लोगों की रक्षा करें, जो ससार के उदय और अस्त के कारण हैं, जो देव-मनूह, यौगिक सिद्धि के अमिलायी सिद्ध-गण, निरन्तर ध्यान-मग्न सयनी और मोक्षार्थी योगि-गण, वरदान और शाप देने में समर्थ कठोर तपस्या करने वाले मुनि-गण, के द्वारा भक्तिपूर्वक पूजित होते हैं ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानविदोऽपि यस्य न विदुर्ब्रह्मार्पणोऽभ्युद्यता-
वृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृते पुष्पाति लोकत्रयम् ।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरैः सस्तूयतेऽभ्युत्थितो
भक्तैर्म्यक्ष ददाति मोक्षमिलपित तस्मै सवित्रे नमः ॥ २ ॥

उस सूर्यदेव को नमस्कार है, जिनके वास्तविक स्वरूप को तत्त्वज्ञान को जाननेवाले और साधना में उत्तर ब्रह्मार्पण भी समझने में असमर्थ हैं, जो अपनी फँसी हुई किरणों से समस्त त्रैलोक्य का पोषण करते हैं, जो उदित होते ही गन्धर्व, देवता, किन्नर, सिद्ध और मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित होते हैं और जो अपने भक्तों के मनोरथ को पूर्ण करते हैं ॥ २ ॥

यः प्रत्यहं प्रतिविमात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलिनागुजालः ।

क्षीवाङ्गनाजनकपोन्तलाभिताम्रः

पायात्स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥ ३ ॥

६

विलोन्वीचीचलिनाखिन्दपतद्रजपिङ्गरिनेश्च हसैः ।

स्वकेसरोदारमरावभुग्नं स्वचित्परास्मम्बुरहैश्च भान्ति ॥ ८ ॥

और वहाँ चबल लहरों से कम्पित कमल के झट्टे हुए परान से पीतवर्ण-
रत्ने हृष्टा से और अपने परा के पूर्णभार ने नम्रीभूत कमलों से सरोवर मुगो-
पित हैं ॥ ८ ॥

स्वपुष्पमारावननेनगेन्द्रेमंदप्रगल्भात्तिकुलस्वनेश्च ।

अजस्रगामिश्च पुराङ्गनामिर्वनानि यस्मिन् समलकृतानि ॥ ९ ॥

जिस मालव देश के दशपुर नगर के उपवन-प्रभूतगुच्छ से अजस्र लहर,
अरुणत मधुनों के गुच्छन तथा निरन्तर सचरणगोल पुरनारियों से अलकृत हैं ॥ ९ ॥

चलत्पराकान्यबलासनायान्यययंशुकलान्यधिकोन्नतानि ।

तडिल्लनाचित्रमिताभ्रकूटतुन्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥

जिन दशपुर के भवन—फहराते हुए झड्ड से, कोमलाङ्गी लक्ष्मियों से,
और ऊँचे-ऊँचे स्वेत शिखरों से ऐसे मुगोपित हो रहे हैं मानो विधुलता की
दीप्ति से रंग विरलि बने हुए स्वेत मेघ के टुकड़े हों ॥ १० ॥

कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-

न्याभान्ति दीर्घबलभोनि सवेदिकानि ।

गान्धवंशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-

कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥ ११ ॥

जिन दशपुर के भवन—कैलास पर्वत के गगनबुम्बी शिखरों के समान बड़े
ऊँचे-ऊँचे छत्रों चक्रों तथा सुन्दर चित्रों से मुगोपित थे, और जिन भवनों के
शीशोपान लटलहाते बदली-टुमों से शोभायमान थे ॥ ११ ॥

प्रासादमालाभिरलकृतानि घरा विदार्येव समुन्मिनानि ।

विमानमान्नासदृशानि यत्र गृहाणि पूर्णेन्दुकरामनानि ॥ १२ ॥

वहाँ के भवन पूर्ण चक्र की किरणों के सदृश स्वच्छ हैं, और मजिदा की
परम्परा में अलकृत ऐसे ललित हो रहे हैं मानो पृथ्वी को फाड़कर ऊपर उठ
बने हुए विमानों की पन्थि हों ॥ १२ ॥

यद्मात्यभिरभ्यसरिद्धयेन चपलोमिता समुपगूढम् ।

रहसि कुचशालिनीन्या प्रीतिरनिभ्या स्मयङ्गमिव ॥ १३ ॥

चंचल सहरोवाली दो नदियों से घिरा हुआ यह नगर ऐसा लग रहा
मानो उरोज बाहिनी प्रीति और रति नाम की दोनों स्त्रियों से एकान्त में
कालिङ्गत होता हुआ कामदेव का शरीर हो ॥ १३ ॥

सत्यधनादमननन्नसौचधैर्य-

स्वाध्यायिवृत्तविनयस्थितिवृद्धधुरेणैः ।

विद्यातपोनिर्धामिरन्मयिनेष्व विप्रै-

र्यैश्च भ्राजते ब्रह्मणैः खनिव प्रदीपैः ॥ १४ ॥

सन्तुष्ट, सहजसौख्य, सत्य, धान्ति, नियम, विद्वत्ता, शीलता, स्वाध्या-
सरत्ता, विनयसौख्य, स्मिरता और सौत्र बुद्धि आदि गुणों से युक्त, विद्या
तप के दानों, अविमान-रहित ब्राह्मणों से परिपूर्ण यह नगर जनकते हुए मछलों से
नरपूर आकाश के समान हो रहा है ॥ १४ ॥

अथ समेत्य निरन्तरमगनेच्छुः प्रविजृम्भितमौहदाः ।

नृपतिमिन्मुक्तवद् प्रतिमानिना प्रनुदितान्यवसन्त मुखं पुरे ॥ १५ ॥

इसके बाद, जनवरण पारस्परिक सम्पर्क के कारण दिनानुदिन बढ़ती हुई
मिश्रता से मुक्त और रात्रियों द्वारा पुनः के सहज सम्मानित अथ एव प्रसन्नचित्त,
चित्तवीर्य युक्तपूर्वक उस नगर में रहने लगे ॥ १५ ॥

श्रवणनुमते गान्धर्वेभ्यो दृढ परिनिष्ठिताः

सुखरितगतासङ्गाः केचिद्विचित्रकथाविदः ।

विनयनिद्रता सम्पन्धनप्रमग्नरागताः

प्रियमवरयं पथ्यं चान्ये क्षमा बहु नापिनुन् ॥ १६ ॥

उन स्त्रियों में से कुछ लोग बानों की मुख पहुँचाने वाली संगीत विद्या में
पूर्ण रूप से निपुण थे, कुछ लोग सँवरों सुन्दर चरित्रों वाली विचित्रकथाओं के
शानकार थे, कुछ लोग विनीत अथ एव शान्त स्वभाव के थे, कुछ लोग समर्प
धार्मिक प्रसंगों में प्रवृत्त थे और दूसरे लोग सुख, योग्य और हितकारी वचन
बोलने में अति समर्थ थे ॥ १६ ॥

केचित्त्वक्मन्ध्याधिवास्यधान्यंविज्ञापते ज्योतिषमात्मवद्भिः ।

अथापि चान्ये नमरपगतनाः बुवंन्त्ययोगानहितं प्रसह्य ॥ १७ ॥

उनमें से कुछ शिल्पी रक्षण करने के करने अद्वय में दिव्यता दे, कुछ

न-सुंयनी लोग ज्योतिष-शास्त्र के मनज्ञ थे और रणभूमि में धैर्यशाली कुछ भी डटकर शत्रुओं का सहार करते थे ॥ १७ ॥

ज्ञा मनोज्ञवपुः प्रथिनोरुवंशा वशानुरूप चरिताभरणास्तथान्ये ।

मन्त्रनाः प्रणयिनामुपकारदक्षा विश्रम्भपूर्वमपरे दृढमौहदाश्च ॥ १८ ॥

उनमें से कुछ लोग बुद्धिमान्, सुन्दर शरीर वाले, विख्यात और उच्चकुल होने, कुल के अनुकूल आचरण रूपी अलङ्कार बाने, सन्ध्यापरायण, प्रेमियों के सफार में कुशल और विश्वासपूर्वक दृढ़ता से मित्रता को निभाने वाले थे ॥ १८ ॥

विजितविषयमङ्गैर्धर्मशीलेस्तथान्ये मृदुभिरधिकस्तत्त्वैर्लोकयात्रामरंश्च ।

वकुलतिलकभूनेमुक्तारामैर्दरंरधिकमभिबिम्बति श्रेणिरेव प्रकारैः ॥ १९ ॥

इस प्रकार उन शिल्पियों का समूह—सासारिक विषयों को बीजने वाले जन्मा, कोमल स्वभाववाने, अत्यधिक शक्तिशाली लोक व्यवहार में देवता के समान, अपने कुल में तिलक स्वरूप, वासना से रहित और उदार प्रकृति के लोगों में अत्यधिक सुगोमित था ॥ १९ ॥

तारुण्यकान्त्युपचिनोऽपि सुवर्णहार-

ताम्बूलपुष्पविधिना समलकृतोऽपि ।

नारीजनः त्रियमुपैति न तावदश्रया-

यावन्न पट्टमयवस्त्रपुगानि धत्ते ॥ २० ॥

युवक प्रयुक्त सौन्दर्य से सम्पन्न होने पर भी, सोने के हार, ताम्बूल और नाना रंगों से प्रसाधित होने पर भी वहाँ की लकनारों तक तक परम शोभा को ही प्राप्त करतीं जब तक रेशम के युगल बसनों का परिधान नहीं करती थीं ॥ २० ॥

स्पर्शवना वपान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन ।

यैः सकलमिदं क्षितिलमलङ्कृतं पट्टवस्त्रेण ॥ २१ ॥

उन शिल्पियों ने छूने में मुलायम, भिन्न-भिन्न रंगों के समुचित विभाग से

१. साट देश के रेशम बुनकर, जो द्यगुर के राजा के गुणों और नगर पर रमणीयता पर मुख्य होकर वहाँ चले आये थे और अनेक प्रकार के व्यवसाय में व्यस्त हो गये थे । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय जातिगत परभाव की परम्परा बिल्कुल नहीं हो पायी थी ।

अद्भुत और नेत्रों को आनन्दित करने वाले रेण्मी वस्त्रों से इस सम्पूर्ण पृथ्वी को सुसज्जित कर दिया था ॥ २१ ॥

विद्याधरीरुचिरपल्लवकर्णपूरवातेरितास्थिरतरं प्रविचिन्त्य लोकम् ।
मानुष्यमर्थनिचयाश्च तथा विद्यालान्तेषां शुभा मनिरभूदचला ततस्तु ॥२२॥

विद्याधरियों के सुन्दर, पल्लवनिमित्त और वायु-प्रेरित अत एव ध्वजा-
कर्णामुषण के समान इस मर्त्यलोक को सज्जनगुर समझ कर और करने का
समूह को विद्याल मानकर उन गिलियों ने करने मन में हिटकारी और दृ-
दिश्य (मूर्त्यमन्दिर निर्माण करने का) कर लिया ॥ २२ ॥

चतुःसमुद्रान्तविन्दोलमेतन्ना सुमेरुर्वागमवृहत्पयोधराम् ।

वनान्नवान्तस्फुटपुष्पहासिनी कुमारगुप्ते पृथिवी प्रणामति ॥ २३ ॥

चारों समुद्रों के तट ही जिसकी चबल करघनी, सुमेरु और बँदाव है ।
उन्नत उरोज है, विपिन पथों में गिरे हुए विकसित सुमन-समूह ही जिसके हाथ
हैं, उस वसुधारा (भारतवर्ष) पर जब कुमारगुप्त प्रणामन कर रहे थे (
उन्होंने 'विश्ववर्मा' को राज्यपाल बनाया" अष्टिम श्लोक से सम्बन्ध-) ॥ २३ ॥

समानधी. शुक्रवृहस्पतिभ्यां लज्जामभूतो भुवि पार्थिवानाम् ।

रणेषु यः पार्यममानवर्मा बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्मा ॥ २४ ॥

(कुमारगुप्त के राज्यकाल में) राजा विश्ववर्मा "राज्यपाल" नियुक्त
किया गया । वह विश्ववर्मा बुद्धि में शुद्धाचार्य और वृहस्पति के समान था, पृथ्वी
भर के राजाओं में शिरोभूषण के समान था और समरभूमि में पार्य के समान
था ॥ २४ ॥

दीनानुकम्पनपरः कृपणानां वर्गमान्त्वप्रदोऽधिकदयालुरनाथनाथः ।

कल्पद्रुमः प्रणयिनामिभयप्रदश्च भौतम्य यो जनपदस्य च वन्धुरामोन् ॥२५॥

वह विश्ववर्मा—दीनों पर दया करने वाला, दरिद्र अत एव दुखी लोगों के
सान्त्वना प्रदान करने वाला, असाधारण दयालु, अनाश्रितों को आश्रय देने वाला
मित्रों के लिये कल्पवृक्ष के समान, भयभीत लोगों को अभय-दान देने वाला और
प्रजा-जनों में भ्रातृ-भाव रखने वाला था ॥ २५ ॥

१. सम्राट् कुमारगुप्त के राज्यकाल में नृप विश्ववर्मा मन्दसौर का स्थानीय
शासक था ।

तस्मात्सज. स्यैयंनयोपपन्नो बन्धुप्रियो बन्धुरिव प्रजानाम् ।

बन्ध्वातिहर्ता नृपबन्धुवर्मा, द्विद्दत्तपक्षधर्षणैकदत्तः ॥ २६ ॥

उसका सड़का राजा बन्धुवर्मा हुआ । वह दह एवं नोनिमान् था, बन्धुवर्मा का प्रियप्राय था, प्रजाजनो के लिये माई के समान था सम्बद्ध लोगों के 'दु'ओं को दूर करने वाला था और शत्रुओं एवं अहंरागियों के समुदाय का सहार करने में अद्वितीय निपुण था ॥ २६ ॥

कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च

राजाऽपि सन्नृपसूतो न मदैः स्मर्याद्यै ।

शृङ्गारमूर्तिर्गर्भभात्यनलकृतोऽपि

रूपेण यः कुसुमचाप इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

वह (बन्धुवर्मा) अमिराम, तरुण, युद्धनिपुण और विनीत था, सर्वसंपन्न गणक क्षेत्रा हुआ भी अहंकार आदि दुर्गुणों से रहित था, आभूषणों के अभाव में भी शृङ्गार की साक्षात् प्रतिमा के समान शोभित हो रहा था अतः एवं सौन्दर्य में मानो दूसरा कामदेव ही था ॥ २७ ॥

वैषध्यानीप्रव्यमनक्षताना स्मृत्वा यमशाप्यरिमुन्दरीणाम् ।

भयाद् भवत्यायनलोचनाना घनन्ननायामकर प्रकम्पः ॥ २८ ॥

जिस (अनुसूदन बन्धुवर्मा) के स्मृति-अप्य भय से आज भी—वैषध्या की शिथिल वेदना से व्याधित विद्यालाक्षी बरि-बन्धुश के पीन वक्ष म्बल में वनेश-कारक कम्पन उत्पन्न हो जाता है ॥ २८ ॥

तस्मिन्नेव क्षितिपतिवृषे बन्धुवर्मपुदारे

सम्यक्स्फूर्तं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतासे ।

शिल्पावाप्तैर्धनसमुदयेः पट्टवार्यैरुदारैः

श्रेणीमूर्तैर्मदनमतुलं कारितं दीप्तरस्मेः ॥ २९ ॥

राजाओं में श्रेष्ठ, उदार और उन्नत सन्धु जाने उस बन्धुवर्मा के द्वारा सृष्ट दशपुर के गुचावभाजन में ही—नित्य-उन्नत द्रव्यराशि से सज्जन शिल्पियों ने समवेत रूप से भगवान् शास्कर का अनुपम एवं मध्य भवन बनवाया ॥ २९ ॥

विस्तीर्णतुङ्गशिखरं शिखरिप्रकाश-

मम्मुदगतेन्दुमलरश्मिकलापगौरम्

यद् भाति पश्चिमपुरस्य^१ निविष्टकान्त-

चूडामणिप्रतिसमं नयनाभिरामम् ॥ ३० ॥

पर्वत सद्य आयत और उन्नत शिखरो से युक्त, उदीयमान चन्द्र के विमत अशु-जाल के सद्य उज्ज्वल, पश्चिम देश की राजधानी दशपुर में जटित श्विर चूडामणि के समान, नेत्रों को मुग्ध कर देने वाला वह मन्दिर घोमायमान था ॥ ३० ॥

रामासनायभवने दरभास्करागुवह्निप्रतापमुभगे जलन्मीनमीने ।

चन्द्राशुहर्म्यंतलचन्दनतालवृन्तहारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे ॥ ३१ ॥

(जिस ऋतु में) केलिमवनो में पति-पत्नी का मिलन होता रहता है, सूर्य की मन्द किरणें और अग्नि का तेज प्रिय लगता है, मछलियाँ जल के भीतर ही छिपी रहती हैं, महलों का चन्द्र-किरण के समान शीतल निचले खण्ड, चन्दन, पहे और हार आदि का सेवन नहीं किया जाता है, हिमपात से कमल मल जाते हैं (उस हेमन्त ऋतु में —दशक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३१ ॥

रौध्रप्रियगुत्तरकुन्दलताविकोशपुष्पामवप्रमुदिनालिकुलामिरामे ।

काले तुषारवणवर्कशशीतवातवेगप्रनुत्तलवलीनगणैकशाखे ॥ ३२ ॥

जो ऋतु रौध्र और प्रियगु वृक्षों के, कुन्द की लताओं के,—विकसित पुष्पों के मधुपान से प्रफुल्लित मधुकर निवर-गुच्छन से मनोरम रहता है, जिसमें हिमवर्ण-मिश्रित अथवा तीव्र एवं शीतल वायु के वेग से आन्दोलित 'लवली' और 'नगण' नामक पुष्प-विशेष की शाखा की घोमा अपूर्व हो जाती है (उस ऋतु में—दशक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३२ ॥

स्मरवशागनरणजनवल्लभाङ्गनाविपुल-।न्तपानोर-

स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भोत्सितनुहिनहिमपाते ॥ ३३ ॥

(जिसमें) कामामिमूढ युवक वृन्द अपनी-अपनी प्रेयसी के पृथुल, मनोहर और पीन जघो, कुचों और पेठुओं के गाढ़ आनिगन से अति शीतल हिमवर्ण को भी तिरस्कृत कर देता है (उस ऋतु में—दशक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३३ ॥

१. दशपुर को ही पश्चिमपुर कहा जाता था । क्योंकि उस समय यह पश्चिम, भारत का सर्वप्रथम नगर माना जाता था ।

मालवाना^१ गणस्थित्या याते दशचतुष्टये ।

त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृती सेव्यघनस्वने ॥ ३४ ॥

मालव-संवत् की गणना के अनुसार चार सौ तिरानवे वर्ष बीत जाने पर—
बारसों के गर्जन से अच्छे लगने वाले हेमन्त ऋतु में (मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई—
श्लोक ३५ से सम्बन्ध) ॥ ३४ ॥

सहस्रमामशुक्लस्य प्रशस्तेर्जित् त्रयोदशे ।

मङ्गलाचारविधिना प्रासादोऽयं निवेशितः ॥ ३५ ॥

पाँच मास के शुक्ल पक्ष की पवित्र त्रयोदशी तिथि में माङ्गलिक विधिपूर्वक
इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा की गई (अर्थात् मन्दिर में सूर्यदेव की प्रतिमा
प्रतिष्ठित की गई) ॥ ३५ ॥

बहुना समनीतेन कालेनान्यंश्च पार्थिवैः ।

व्यशीयन्तं वदेशोऽयं भवनम्य ततोऽधुना ॥ ३६ ॥

उसके बाद, अन्यान्य परवर्ती राजाओं के द्वारा बहुत समय व्यतीत कर दिये
जाने के अनन्तर उस सूर्य-मन्दिर का एक भाग टूट गया इसके बाद अब (फिर
उसका जीर्णोद्धार किया गया—श्लोक ३७ से सम्बन्ध) ॥ ३६ ॥

स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया ।

सत्कारितमिदं भूय श्रेष्ठ्या भानुमनो गृहम् ॥ ३७ ॥

(इसके बाद अब) अपनी कीर्ति को बढ़ाने के लिये, उस उदार शिल्पि-
समूह ने इस समस्त विशाल सूर्य-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया ॥ ३७ ॥

अत्युन्नतमवदातं नभः स्पृशन्निव मनोहरैः शिखरैः ।

राशिभान्वोरभ्युदयेऽप्यमलमयूसायननभूतम् ॥ ३८ ॥

(इस प्रकार भरम्भत होने के बाद) बहुत ऊँचा, स्वच्छ और अपने सुन्दर
शिखरों से आगमान को घूमता हुआ वह मन्दिर मानो चन्द्रमा और सूर्य के
उदयकालीन निर्मल किरणों का विश्राय-स्थल था ॥ ३८ ॥

१. मालव-गण में प्रचलित संवत् । मालव-गण अपने मूल निवास-स्थान
पञ्जाब से यह संवत् लाये थे । विन्तु संभवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने जब
उन्हीं से मालवा जीता, तब उसका नाम “विक्रम संवत्” पड़ गया । बहुत
प्राचीन समय में इसी को “वृत्त संवत्” भी कहा जाता था ।

वत्सरशतेषु पञ्चमु विधान्यधिकेषु नवमु चाब्देषु ।

यानिष्वग्निगम्यनपम्यमामगुक्लद्वितीयायाम् ॥ ३९ ॥

पाँच सौ उनतीस वर्ष बीस जन के बाद मनभावन पागुन के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को (इस पुनःसृष्ट मूर्त्यमन्दिर से दशपुर उत्पन्न हो गया— श्लोक ४२ से सम्बन्ध) ॥ ३९ ॥

स्पष्टैरशोतना केनकमिन्दुवारलागतिमुत्कृष्टनामदयन्तिकानाम् ।

पुष्पोद्गमंरभिनवैरधिगम्य नूनमेक्य विजृम्भितगरे हरपूतदेहे ॥ ४० ॥

पागुन के उस सादर महीने में, जब कि महादेव के विषम सोचनानल से मस्मीभूत जन एवं पवित्र शरीर वाला कामरूप—अशोक वृक्ष, केवड़े, मिन्दुवार और लहराती हुई 'अतिमुत्कृष्ट' लता और 'मदयन्तिका' के सद्यःप्रस्तुति पुरस्त्रीभूत प्रभूनों में अपने घरों का समृद्ध करता है ॥ ४० ॥

मधुपानिमुदिनमधुवन्वृत्तासगीननगणैकपृथुशस्त्रे ।

काले नवकुमुभोद्गमदन्तुर्कान्निप्रचुरोद्ये ॥ ४१ ॥

जिस पागुन में मकरन्द पान में मग्न मधुनों की गुँज से नरनों की छात्रा अपनी सानी नहीं रखती और नूनन मुमना के विक्रम से रोषद्रुमों में उत्कर्ष और श्री की समृद्धि हो रही है ॥ ४१ ॥

शशिनेव नमो विमल कोस्तुभमग्निनेव शार्ङ्गिणो वक्ष ।

भवनवरण तथेद पुरमस्त्रिगण्डङ्गनमुदारम् ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार निर्मल आकाश चन्द्रमा में और भगवान् विष्णु का वक्षस्स्थल कोस्तुभ मणि में शृणामित होत हैं उसी प्रकार यह समस्त समृद्ध दशपुर नगर इस दिव्य मन्दिर से मण्डित हो रहा है ॥ ४२ ॥

अमलिनशशिलेखादन्तुर पिङ्गलाना

परिवहति समूह यावद्दीप्तो जटानाम् ।

विकचकमन्त्रमात्राममनचा च शार्ङ्गी

भवनमिदमुदार शाश्वत तावदस्तु ॥ ४३ ॥

जब तक भगवान् शंकर धवल चन्द्रकला से नवीशत, पीतवर्ण के जटाजूट को धारण करते हैं और जब तक भगवान् विष्णु अपने कर्णों पर प्रस्तुति पद्ममाला को धारण करते हैं, तब तक यह भव्य भवन स्थायित्व को प्राप्त करे ॥ ४३ ॥

श्रेष्ठ्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं गवे ।

पूर्णांचेयं प्रयत्नेन रचिता वत्समदृष्टिना ॥ ४४ ॥

स्वस्ति कर्तुं लेखकवाचस्पत्योत्तम्य ।

सिद्धिरन्तु ।

सिलि-समाज के आदेश एवं थप्पा से भगवान् सूर्य का यह मन्दिर बनवाया गया । और उपर्युक्त प्रशस्ति की वत्समदृष्टि न यत्न पूर्वक रचना की ॥ ४४ ॥

प्रशस्ति के रचयिता, लिखक, पाठक एवं आताओं का कल्याण हो ।

सिद्धि हो ।

शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व

विषय—यद्यपि इस अभिलेख में मुख्यरूप से रैद्यमी बुनहरों द्वारा मालवा के मन्दसौर या दशपुर नगर में सूर्य-मन्दिर के निर्माण की घटना का वर्णन है । अत्र इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण की सामग्री तो कम ही है, फिर भी कवि ने इसमें तत्कालीन त्रिस भारताय शामक की चर्चा की है वे हैं गुप्तवंश के सबसे प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम । अभिलेख के २३ वें श्लोक के अन्तिम चरण में कवि ने स्पष्टरूप से कुमारगुप्त का उल्लेख किया है—“कुमारगुप्ते पृथिवी प्रशामति” । इतना ही नहीं, उन्होंने २४ वें और २६ वें श्लोक में मालवा देश के तत्कालीन प्रांतीय शामक नर विश्ववर्मा और उनके पुत्र दशपुर नगर के शासक बन्धुवर्मा का नामाश्लेष भी किया है । इसके साथ ही कुमारगुप्त प्रथम के समय में जब बन्धुवर्मा दशपुर नगर का शासन कर रहा था तो दशपुर नगर की रमणीयता पर मुग्ध होकर लाट देश के रैद्यमी बुनहरों का मन वहाँ आकर अरुण व्यस्तताय करने लगा और अरुण व्यस्तताय से प्राप्त धन से उसने राजा की आज्ञा से नगर में एक भव्य सूर्य मन्दिर बनवाया । कुछ दिनों बाद वह मन्दिर भग्न हो गया जिसका पुनर्निर्माण उन्होंने लोगों ने फिर किया । स्रोत में इस अभिलेख से यह घटना ज्ञात होती है । अब आगे हम स्रोत में अभिलेख में आये कुमारगुप्त और इससे निकलने वाले कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करेंगे ।

समय—अभिलेख के ३९ वें श्लोक में “वत्सरयतेषु पञ्चसु विराटपधिकेषु नवसु चाग्नेषु” इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि पट्टवायश्रेणी द्वारा सूर्य-मन्दिर की मरम्मत मानव संवत् ५२९ में फागुन महीने के शुक्लपक्ष की द्वितीया तिथि

में हुई थी। अमिलेख की रचना का भी समय यही होना चाहिए। मालव सवत् ५२९, जो विक्रम सवत् से भी प्रसिद्ध है, को ४७३ ईस्वी माना गया है।

कुमारगुप्त का परिचय — गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका बेटा पुत्र कुमारगुप्त राज्य-सिंहासन पर बैठा। चन्द्रगुप्त बिहमादित्य ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी भ्रुकुव्भामिनी से विवाह किया था। उसी प्रवन्धामिनी का पुत्र कुमारगुप्त था। इन बातों का संकेत हमें स्कन्दगुप्त के “भित्तरी” (Bhattari) स्तूप-लेख के ‘महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्या प्रवदेव्यामुन्द-शतस्य महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य’ इस वाक्य से मिलता है। छाप हाँ बिहार के वैशाली नामक स्थान में प्रसिद्ध मिट्टी की मुहरों से यह भी ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त नाम का कुमारगुप्त का एक भाई था जो कुमारगुप्त के प्रतिनिधि के रूप में वैशाली का शासन करता था। उन मुहरों में गोविन्दगुप्त की माता भ्रुकुव्भामिनी के साथ गोविन्दगुप्त का एक छाप उल्लेख मिलता है—“महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त-पत्नी महाराज श्री गोविन्दगुप्त-माता महादेवी भ्रुकुव्भामिनी।” इन मुहरों से यह ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त, कुमारगुप्त का छोटा भाई था और कुमारगुप्त बड़ा होने के कारण राज्यसिंहासन का उत्तराधिकारी बना था।

राज्यकाल — कुमारगुप्त के बहुत से विविध अमिलेखों और मुद्राओं से हम उसने राज्यकाल का निश्चय कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सबसे अन्तिम साँचीवाले गुप्त सवत् ९३ के लेख से यह मालूम होता है कि ई० सन् ४१३ के बाद राज्य का शासन भार कुमारगुप्त के कंधे पर आ गया था। कुमारगुप्त के मिलसद अमिलेख से इस बात की पुष्टि हो जाती है, जिसकी तिथि गुप्त सवत् ९६ (ई० सन् ४१५) है। कुमारगुप्त के बाँदी के सिक्कों पर उसकी सबसे अन्तिम तिथि गुप्त सवत् १३६ मिलती है। इसके साथ ही कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त की सबसे पुरानी लिखित तिथि जूनागढ़ अमिलेख में गुप्त सवत् १३६ (ई० सन् ४५५) है।

इन उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त ने सन् ४१३ से लेकर सन् ४५५ ई० तक राज्य किया।

राज्य-विस्तार :—कुमारगुप्त प्रथम के किसी भी अमिलेख या अन्य उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं ज्ञात होता है कि उसने अपने पिता कदापि पितामह की भाँति विजय-यात्रा करके अपने राज्य का विस्तार किया था। हाँ! इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इसने अपने पिता से प्राप्त विराट सभ्राज्य का सुन्दर

रग से शासन-प्रबन्ध किया और उसको अन्त तक सुरक्षा भी की। उसकी राज्यसीमा पूर्व में बंगाल और पश्चिम में सौराष्ट्र तक उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत थी। उस समय कुमारगुप्त के सामन्त के रूप में "नूर विश्ववर्मा" मालव देश का शासन कर रहा था और उसी का पुत्र बन्धुवर्मा मालव देश के दणपुर नगर का प्रधामक था। इससे द्वारा नियुक्त बिरानदत्त और घटात्कच क्रमशः उत्तरी बंगाल और पूर्वी मालवा पर शासन करता था। इस प्रकार कुमारगुप्त का शासन बड़ा ही शान्तिपूर्ण था। उसके शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य का वैभव चरमोत्कर्ष पर था। अतः उसका शासन-काल बड़ा ही सुखमय था किन्तु कुमारगुप्त के शासन-काल के अन्तिम समय में उसे पुष्यमित्रों से युद्ध करना पड़ा, जो बड़ ही शक्तिशाली हो गये थे। कुमारगुप्त उस समय बूढ़ था अतः एव उसके योग्य पुत्र स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रा का बटकर मुकाबिला किया और उन्हें परास्त भी किया। इसकी पुष्टि भित्तरी के प्रस्तर स्तम्भ लेख के "विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन ... समुदितबलकोद्याद् पुष्यमित्राश्च जित्वा ... " इस अंश से होती है।

अश्वमेध यज्ञ तथा धार्मिक सहिष्णुता—यद्यपि कुमारगुप्त ने कोई विजय-यात्रा नहीं की थी, जिसके फलस्वरूप वे अश्वमेध यज्ञ करते लेकिन चूँकि उनके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय और पितामह समुद्रगुप्त ने यह यज्ञ अपनी विजय के उपलक्ष्य में किया था, इसलिये कुमारगुप्त ने भी अपने सुख्यवस्थित साम्राज्य में अश्वमेध यज्ञ की परम्परा की सुरक्षा की थी इस बात का सबेव हमें उसके सोने के उन सिक्कों में मिलता है जिनके पृष्ठ पर "श्री अश्वमेध महेन्द्र" यह उल्लेख पाया जाता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसने यह उपाधि अश्वमेध यज्ञ के बाद धारण की होगी। क्योंकि अन्य उपाधियों के रहते हुए भी कुमारगुप्त सामान्यतः महेन्द्रादित्य के नाम से ही विख्यात था।

अपने पूर्वजों की भाँति ही कुमारगुप्त बट्टर ब्राह्मण-धर्मानुयायी होकर भी और धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसने अपने सुदीर्घ शासन-काल में मन्दिरों और धर्मों के लिये अनेक प्रकार के दान दिये। मानकुँवर और साँची के अभिलेखों से यह पता लगता है कि उसने बौद्ध-विहारों के भी निर्माण में मुक्त हाथों से दान दिया था। ब्राह्मण धर्म के देवताओं में उसने सूर्य, शिव, विष्णु और वातिकेय को अधिक प्रथम दिया था। कुमारगुप्त ने देवताओं में सर्वाधिक

महत्त्व कार्त्तिकेय की दिया था। अतः एव उसके चिह्नों से यह ज्ञात होता है कि उसी समय विष्णु के स्थान पर कार्त्तिकेय ही इष्टदेव के रूप में पूजा का स्थान प्राप्त कर चिप्ये। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमारगुप्त एक प्रभावशाली शासक, परम ब्रह्मचर्य, धर्ममहिष्णु, दानवीर तथा प्रबाधालक सम्राट् था।

इसके अनिरुद्ध मन्दसौर शिलालेख से निम्नलिखित बातों का आभास मिलता है —

(१) गुप्तवंश में कुमारगुप्त नाम के दो राजे हो चुके हैं जिसमें इस अभिलेख का सम्बन्ध कुमारगुप्त प्रथम से है।

(२) अभिलेख के विवरण से यह पता लगता है कि उस समय दशपुर में सूर्य-मन्दिर का निर्माण, और नष्ट हो जान पर उसका पुनर्निर्माण में दो घटनाएँ मिलती हैं, जिनमें कवि ने मन्दिर निर्माण के समय विद्यमान वहाँ के शासक का नामोल्लेख तो किया है किन्तु पुनर्निर्माण के समय के शासक का उल्लेख नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि मन्दिर-निर्माण के समय उत्पत्तीन शासक का नामोल्लेख करना चाहिए" यह सोचकर ऐसा किया गया किन्तु पुनर्निर्माण के समय समस्त दशपुर का कोई शासक नहीं था, अतः "कुमारगुप्ते पृथिवी प्रशामति" के द्वारा पुनर्निर्माण की घटना के समय कवि ने प्रधान कुमारगुप्त की खर्चा की है।

(३) "कुमारगुप्ते पृथिवी प्रशामति" से कवि का तात्पर्य मालव-संवत् ४९३ में मन्दिर का निर्माण और मालवसंवत् ५२९ में उसका पुनर्निर्माण इन दोनों घटनाओं के समय में "कुमारगुप्त" इस एक ही नाम से धारण करने वाला एक केन्द्रीय महाशासक था।

मन्दिर निर्माण के ३६ वर्ष बाद ५२९ मालव-संवत् में उसके पुनर्निर्माण की घटना के समय कुमारगुप्त द्वितीय के शासन करने की भी सम्भावना की जा सकती है।

शिलालेख की साहित्यिक विशेषताएँ

विषय :—मुख्य रूप से इस अभिलेख में क्षत्रमण्डि ने श्राट् देश से दशपुर आये हुए रेघमी बुनकरों द्वारा वहाँ पर सूर्य-मन्दिर के निर्माण और दशपुर नगर का सुन्दर वर्णन किया है। इस प्रकार यह एक प्रकार का साम्प्रदायिक अभिलेख माना जाता है। यह प्रशस्ति बंदर्भों रीति का आश्रय लेकर सरल

काव्य की रचना में सिद्धहस्त कवि की लघुकाव्य के रूप में सर्वोत्कृष्ट कमनीय कृति है तथा यही कृति वल्लभट्टि को संस्कृत के उत्कृष्ट कवियों की पंक्ति में बैठाती है।

वल्लभट्टि ने अपनी प्रशस्ति का शीर्षक न देकर 'पूर्णां वेद्यं प्रमत्तेन रचिता वल्लभट्टिना' इस कथन में 'पूर्णा' शब्द में ही उमकी ओर संकेत दिया है। इसने इस बात का संकेत मिलता है कि पञ्चम शताब्दी में मन्दिर-निर्माण तथा अन्यान्य सामाजिक हित के कार्यों को प्रशाना में ऐसी ऐसी प्रशस्तियों की रचना की जाती थी।

साथ ही "प्रमत्तेन रचिता" इस प्रयोग से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने अलंकारशास्त्र का गहन अध्ययन करके तब उन नियमों का माझीमाझी निर्वाह करते हुए अपनी कृति का निर्माण किया है, जैसा कि उनके इस अभिलेख के काव्यगत गुणदोषों के विवेचन से स्पष्ट होगा।

शैली :—यों तो सर्वत्र धर्मों रीति का ही आशय लेकर काव्य-रचना की गई है किन्तु स्थान स्थान पर वर्णविषय के अनुकूल दीर्घ समान का आशय लेकर यौही बन्ध का सन्निवेश किया गया है। यौही रीति का उदाहरण हम ३२ वें एवं श्लोक में पाते हैं। पद्य में लम्बे लम्बे समानों का प्रयोग स्वच्छन्दता से किया गया है। पुरा ३३ वाँ श्लोक एक ही ममामपूर्ण वाक्य में लिखा गया है। कवि ने अपने वर्णविषय के अनुकूल धनियों के नाद उपस्थित करने-वाले शब्दों का गुम्फन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। एक ही पद्य में अनेक रमों का समाहार है नायक की उदात्तता दिखाने के लिये कोमल पशों का बिन्यास यहाँ किया गया है वहीं उसके दीर्घ और औद्धत्य के वर्णन में परप शब्दों के प्रयोग से अपनी वर्णन-पद्धति को बहुमुखी प्रमाणित कर दिया गया है।

'तस्मात्प्रमत्तः' इस २६ वें श्लोक में कोमल एवं परप उभयविध शब्दों का समन्वय विषय की अनुकूलता की ध्यान में रखकर ही किया गया है। श्लोक के अन्तिक पाद में रौद्ररम के अनुकूल ही पदावली का प्रयोग है।

अलंकार :—अलंकारों में पञ्चालंकार और अर्धालंकार इन दोनों का प्रयोग किया गया है। पञ्चालंकार में अनुप्रास का विशेषकर वर्णानुप्रास का प्रयोग किया गया है। पदानुप्रास का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। वर्णानुप्रास का उदाहरण तो प्रायः सभी श्लोकों में मिल जाता है। पदानुप्रास का उदाहरण हम २६ वें श्लोक में बहु शब्द के तीन बार के प्रयोग में पाते हैं।

अर्पालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक का उदाहरण बहुत अधिक मिलता है। कवि की उपमा की छटा कालिदास की उपमा की स्मृति दिला देती है—“चलन्तद्राक्षन्प्रवृत्ताननाम्—” इन १० वें श्लोक में कवि ने दण्डुर नगर के मदनो के ऊँचे ऊँचे श्वेत-दिल्लरों की उपमा विद्यन्तता की दृष्टि से रत्न-विराजते बने श्वेतमय के तुकड़ों से दी है। इसी प्रकार “ननानघीः” इन २४ वें श्लोक में विष्णुवर्मा की कुट्टि तथा बीरगा की उपमा देवगुरु बृहस्पति तथा कर्पूर से दी गई है।

इसी तरह—१० वें श्लोक में दण्डुर नगर में विराजमान सूर्य-मन्दिर की चौदार्द और ऊँचाई की उपमा पर्यंत के शिल्पों में दी गयी है और साथ ही पश्चिम देश की राजधानी में शोभायमान इस मन्दिर की उपमा जानूपणों में छटित चूडानगि से दी गयी है। सबसे सुन्दर उपमा का उदाहरण हमें—४२ वें श्लोक में मिलता है। वहाँ इस सूर्य-मन्दिर ने युक्त दण्डुर नगर की सुलग चन्द्रमा से युक्त स्वच्छ आकाश से और बौलुभनधि-विभूषित विष्णुमयान के बल-स्वत से की गयी है। इसी प्रकार १३, २६ एवं २७ वें श्लोक में भी उपमा अलंकार है।

उत्प्रेक्षाालंकार की छटा दो बड़ी ही सुन्दरारी है। देखिये—१२ वें श्लोक में कवि ने उपमा के माध्यम से अशुभान का बैना सुन्दर मनन्वज किया है—वहाँ के मदन पूर्ववन्ध की किरणों के मृदु स्वच्छ और मँडिलों की परम्परा से अलङ्कृत ऐसे मानूम पड़ते हैं मानो धूमिली की चौर चर ऊपर उठ जाने हुए बिनानों की पालि हो।

इसी प्रकार दण्डुवर्मा के चरित्र-चित्रण और मौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में—२७ वें श्लोक में कवि ने दण्डुवर्मा को रूप में मनो बानदेव का दूसरा अवतार ही मान लिया है। इसी भाँति—३२ वें श्लोक में भी बहुत ऊँचा, स्वच्छ और अनेक सुन्दर दिल्लरों से आलम्बन की छूटा हुआ वह मन्दिर मनो चन्द्रमा और सूर्य के उदयवाटोंन निर्मल किरणों का दिव्यमन्दल हो। इस प्रकार उत्प्रेक्षा का सुन्दर चित्र उपस्थित होता है।

रूपक अलंकार का उदाहरण हम “पुष्पावनम्रतरङ्गवर्धनवाणाः” इस छठे श्लोक के मृतीय चरण में पाते हैं। वहाँ पर पुष्प के मार से मुँके हुए दूध ही उस मालव भूमि के शोभानुषण है।

आगे २३ वें श्लोक में रूपक का सुन्दर विन्यास है। इसमें कवि ने चारों छतुओं के तट को पृथिवी की डोन्टो करघनी माना है। मुमेष और कैलाश पर्वत को उमका स्तन और वनपर्वों में टपकते खिन्ने हुए फूलों को उमका ह्रम माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी छिट-भुट रूप में रूपक का उदाहरण मिलता है।

छन्द :—इस अभिलेख में जहाँ तक छन्दों का प्रश्न है, उसमें तो कवि ने कनाल दिखाया है काव्यग्रन्थ के पालन के लिये और अपने छन्दशास्त्र के आधिपत्य को दिखाने के लिये कवि ने ४४ पद्यों की प्रशस्ति में लगभग १२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि शीघ्रता से छन्द-परिवर्तन के कारण रूप की पति कमजोर पड़ जाती है और इसीलिए छन्द-मौन्दर्य पूर्णतया उभर नहीं पाया है फिर भी छन्दों की विविधता अवश्य ही रोचक है।

कवि ने १, २ मगल श्लोकों में छांदूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है। कवि ने वसन्तविलसा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। श्लोक सख्या ३, ५, ६, ११, १४, १८, २०, २२, २५, २७, ३०—३२ और ४० वें श्लोक में वसन्त-विलसा का उपयोग किया है। श्लोक सख्या ७—९, २४ में उपेन्द्रवत्या छन्द है। श्लोक सख्या १७, २६ में इन्द्रवत्या, श्लोक सख्या १०, १२, २८ में वषाति (इन्द्रवत्या + उपेन्द्रवत्या) श्लोक सख्या १९ और ४३ में मालिनी, श्लोक सख्या १५ में दुर्गविलम्बित, १६ में हरिणी, २३ में वरुण, २९ में मन्दाहान्ता, श्लोक सख्या ४, १३, २१, ३३, ३८, ३९, ४१, ४२ इनमें आर्या और ३४—३७, ४४ में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है।

वर्णन में अन्य कवियों से समता

दशपुर नगर के वर्णन में कवि ने बड़ी ही रुचि दिखायी है। वसुमति की इस प्रशस्ति में दशपुर के वर्णन में कालिदास के अलका-वर्णन की छाया स्पष्ट मिलती है। देखिये प्रशस्ति के—“.....चलत्पताकान्धवत्समनाया.....” गृहामि यन्” इस श्लोक में उत्तर मेघ के “निगूढन्त सत्तिवनिता. सेन्द्रबाप सविनाः” इस अलका-वर्णनपरक श्लोक से अपूर्व साम्य है।

इसी प्रकार वसुमति के नदी-वर्णन के प्रसंग में उसे कामदेव की पत्नी की उत्प्रेक्षा करने की प्रेरणा कवि को मुग्ध की वासवदत्ता से और बृहस्पति से मिली होगी। देखिये—प्रशस्ति के १३ वें श्लोक “रहसि कुचशशिनीम्य प्रीतिरिन्मो स्मराम्भिव” में “वासवदत्ता” के “रेखया प्रियतमये प्रसारित-

दीर्घिहस्तयोपगूढः" इस श्लोक की ओर नृहस्तहिता में "रहसि मदनसत्तया रेवया बान्तयोपगूढम्" इस श्लोक की छाप स्पष्ट नजर आती है।

शिथिर ऋतु का वर्णन बड़ी ही रोचक शैली में हुआ है। कवि का यह ऋतु-वर्णन कालिदास के ऋतुसंहार के ऋतु-वर्णन से मिलता जुलता है। देखिये, कालिदास के—

"सद्यःप्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्ति नवचूतबाणे।

निवेशयामास मधु द्विरेफाः नामादाराणीव मनोभवस्य ॥"

इस वर्णन के आधार पर ही वत्समट्टि ने ४० वें श्लोक—'स्पष्टैरद्योक्तव-
केतवसिन्दुवार' में पाँच पुष्पो की तुलना कामदेव के पाँच बाणों से की है।

टिप्पणी

दशपुर—मन्दसौर।

विहार—फ्लोट महोदय के अनुसार इस शब्द का अर्थ "बौद्ध भिक्षुओं का आवास" है। इस शिलालेख के उत्कीर्ण होने के दिनों में दक्षिणी गुजरात में बौद्ध विहारों की संभावना भी की जा सकती है। किन्तु वत्समट्टि ने यहाँ पर इस शब्द को 'आनन्द' के अर्थ में प्रयोग किया है।

लाट-विषय—पश्चिमी मालवा का पश्चिमी इलाका। इसकी राजधानी नवसारीका थी।

श्रेणिरेवं प्रकारैः—लाट देश के रेशम बुनकर, जो दशपुर में बस गये थे, अनेक व्यवसाय करने लग गये थे। इससे यह प्रकट होता है कि जातिगत व्यवसाय रुढ़ नहीं हुआ था।

मालवाना गणस्थित्या—माकवगण में प्रचलित संवत्। ये लोग अपने मूल स्थान पंजाब से यह संवत् लाये थे, किन्तु चन्द्रगुप्त विज्रमादित्य समवतः द्वितीय ने जब शकों से मालवा जीता तब उसका नाम 'विज्रम संवत्' पड़ गया। बहुत प्राचीन काल में इसी को 'वृत्र' संवत् भी कहते थे।

कारणद्वय—एवं प्रकार का हंस।

नृप विश्ववर्मा—यह मन्दसौर का स्थानीय शासक था, जब कि कुमारगुप्त सम्राट् था।

पश्चिमपुर—दशपुर को ही 'पश्चिमपुर' कहा जाता था। क्योंकि उस समय पश्चिम भारत का यह सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

(४) दशपुरस्थयशोधर्मराजकालिककूपशिलालेखः

[महाराजयशोधर्मणः शिलालेखः]

(मालव संवत् ५८९)

सिद्धम्

स जयति जगता पतिं पिनाकी न्मिनखगोनिषु यन्म दन्तकान्ति ।

द्युतिरिव तडिना निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटमन्धश्च विश्वम् ॥१॥

सिद्धि हो ।

‘पिनाक’ नामक धनुष की धारण करनेवाले, समस्त विश्व के स्वामी उस एकर भाग्य की जय हो जिनके मुक्कराहट सम्पत्ता और सगान में प्रस्तुतित त्यों की धामा, रात में छिटकती बिजली की चमक के समान इस संहार की विरोध और प्रकाशित करती रहते हैं ॥ १ ॥

स्वयन्मूर्धनाना म्यितिलयमुत्पत्तिविधिषु
प्रमुक्तो येनाज्ञा वहनि भुवनाना विधृतये ।

पितृन्व चानोनो जगति गरिमाण यमयना

स शम्भुर्भूमामि प्रतिदिशतु भद्राणि भवताम् ॥ २ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति, म्रिष्टि और संहार रूप कार्य में जिनके द्वारा नियुक्त ब्रह्मा संहार के कारण के लिए उनके आदेश का पालन करते हैं, और इस प्रकार जो संहार में ब्रह्मा की महिमा को बढाते हुए उनकी निशानह के पद पर पहुँचाते हैं, वे सिव आन लोगों का मूलि-भुरि मगल करें ॥ २ ॥

पामनिगुरुमाराकान्तिदूरावनम्र

स्वययति रचमिन्दोमण्डल यस्य भूर्धोम् ।

स शिरसि विनिवधन् रन्ध्रिगोमस्थिनाला

सूत्रनु भवत्सूत्रो वः क्लेशमङ्ग मुजङ्ग ॥ ३ ॥

एन की मगियों के अत्यधिक बोध के कारण बहुत अधिक मुका हुआ जिनके मस्तकों का मरुत धड़ना की धोना की भी मन्द कर देता है, संहार की रचना

करनेवाले भगवान् शंकर के मस्तक पर छिद्रमयी हठियों की माला को बाध करनेवाला वह सपे आप लोगों के दुःखों को दूर करे ॥ ३ ॥

पट्या सहस्रैः सगरात्मजानां खात सतुल्या रुचमादधानः ।

अस्योदपानाधिपतेश्चिराय यशासि पायात्पयसा विधाता ॥ ४ ॥

राजा सगर के साठ हजार पुत्रों के द्वारा खोदा गया और आकाश के समान क्षीमा को धारण करनेवाला वह समुद्र चिरकाल तक कुण्ड के स्वामी के यश की रक्षा करें ॥ ४ ॥

अथ जयति जनेन्द्र श्रीयशोधर्मनामा

प्रमदवनमिवान्त शत्रुसैन्य विगाहा ।

वणकिसलयमङ्गैर्योङ्गभूषा विधत्ते

तद्वनतल्लतावद्भीरकीर्तीविनाम्य ॥ ५ ॥

अन्त पुर के श्रीशेघान के समान शत्रुओं की सेना को भीतर से विलोडित कर, वीरों की कीर्ति को नूतन वृक्षों की लता के समान झुकाकर, छवि रूपी पल्लव-रचनाओं से अपने अंगों को विभूषित करनेवाले जननायक यशोधर्म की जय हो ॥ ५ ॥

आजौ जितौ विजयते जगतीम्पुनश्च

श्रीविष्णुवर्धननराधिपति स एव ।

प्रख्यात औलिकरलाञ्छन आत्मवद्विशो

येनोदितोदितपद गमिनो गरीय ॥ ६ ॥

इसके बाद फिर, सग्राम में भूमण्डल को जीतनेवाले, "औलिकर" उपनाम से प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण अपने वश को अत्युच्च पद पर पहुँचानेवाले राजा विष्णुवर्धन की जय हो ॥ ६ ॥

प्राची नृपान् सुवृहत्तश्च बहूनुदीचः

साम्ना युधा च वशगान् प्रविधाय येन ।

नामापर जगति कान्तमदो दुराप

राजाधिराजपरमेश्वर इत्युद्बुधम् ॥ ७ ॥

और जिसने पूर्व के विविध राजाओं का तथा उत्तर के बहुत से राजाओं को शान्ति और युद्ध के द्वारा अपने अधीन करके ससार में सुन्दर और दुर्लभ "राजाधिराज परमेश्वर" उपनाम को प्राप्त किया (उसकी जय हो) ॥ ७ ॥

स्निग्धश्यामाम्बुदाभे. स्थगितदिनकृतो यज्वनामाज्यधूमे-

रम्भो मेध्य मघोनावधिषु विदधता गाढसम्पन्नसस्य. ।

संहर्षाग्निनीना कररभसहृतोद्यानचूताङ्कुराया

राजन्वन्तो रमन्ते भुजविजितभुवा मूरयो येन देशाः ॥ ८ ॥

होनाओं की आहुति से उठे हुए चिकने और काले मेघों के समान धूमपटल से आच्छन्न सूर्य वाले, इन्द्र के द्वारा ठीक समय पर पवित्र जल की वर्षा की जाने के कारण प्रचुर धान्य से समृद्ध, विदग्ध धनिताओं के करपत्तद से मस्ती के साथ वेगपूर्वक उपवन की खींची जानी हुई आन्न मज्जरीवाले अनेक देश, मरने बाहुबल से पृथ्वी को जोतनेवाले जिस यशोधर्मा के द्वारा अपने-अपने कर्ष्यों में नियुक्त राजाओं से मुक्त होकर फल पूल रहे हैं, (उसकी जय हो) ॥

यम्योत्केतुभिरन्मदद्विपन्नरव्याविद्वलोलध्रुमे-

रदधूनेन वनाध्वनि ध्वनिनदद्विन्ध्याद्विरन्ध्रैर्वले ।

वालैयच्छद्विधुमरेण रजसा मन्दाङ्गु सलक्ष्यने

पर्पावृत्तशिखण्डिचन्द्रक इव ध्याम रवेमण्डलम् ॥ ९ ॥

झंडे पहरानेवाली, वनमार्ग में हस्ति-समूह के सूडों द्वारा लोभ वृत्तों को दबा देनेवाली और अपने गर्जन से विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं की प्रतिध्वनित करनेवाली जिसकी सेनाओं के द्वारा विजय में (विजय-यात्रा के प्रसंग में) उठे हुए और गदहे के रंग के समान भूरे घूलि-पटल से मलिन सूर्य-मंडल निम्तेज होकर मोरपक्ष के उलटा चँदवा के समान दोल रहा है (उसकी जय हो) ॥ ९ ॥

तस्य प्रभोर्वद्भुता नृपाणा पादाश्रयाद्विभृतपुण्यकीर्तिः ।

भूत्यः स्वनेभूत्यजितारिपट्क आसीद्वसोषाम् किल पष्ठितः ॥ १० ॥

उन राजा के पूर्वज (पूर्ववर्ती) राजाओं के चरणों में निवास करने के कारण प्रख्यात पुण्य और कीर्ति वाला, अपने विनाश भावों से काम क्रोधादि पद्-रिपुओं की नियन्त्रित रखनेवाला, "पष्ठित" नाम का धन-सम्पन्न सेवर था ॥ १० ॥

हिमवन इव गाङ्गस्तुङ्गनम्रः प्रवाहः

शशभृन् इव रेवावारिराशिः प्रथीयान् ।

परमभिगमनीयः शुद्धिमानन्ववायो

यत उदितगरिम्णस्तायते नेगमानाम् ॥ ११ ॥

द्विध प्रकार हिमालय पर्वत से यन्त्र का उन्नत और नम्र प्रवाह तथा पट्टना से रेवा नदी (नर्मदा) का विद्युत् जल-सूई पैदा उसी प्रकार समुद्र-महिमावाने इस पहिदत्त से नगर के व्यापारियों के अन्त्यदि पूज्य और दिगु-कुल का प्रसार हुआ ॥ ११ ॥

तस्यानुकूलं कुलजात्तन्त्रात् नुनं प्रनूतो नशमा प्रनूतिः ।

हरेरिवाङ्घ्र्यं वगिनं वराहं वराहदानं मनुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

उन पहिदत्त की उच्चकुलोत्पन्न धर्मपत्नी से उसके ही अनुकूल परम महि-
म्वत् उत्पन्न हुआ । नन्वान् विष्णु के अंग के दृश्य, विदेगिद्वय और सुलोच्य एवं
पुरष रत्न की "वराहदास" इस नाम से पुजारा जाता है ॥ १२ ॥

सुकृतिविषयितृङ्गं मृत्तूरं धराया

न्यनिमपगतमङ्गा स्तेनसामारधानम् ।

गुरुरितरमिवाद्देन्तुल्यं स्वान्नभूया

रविरिव रविकीर्तिं सुप्रसाद्य व्यसत् ॥ १३ ॥

पुण्य कर्म को करनेवाले, सिंह पुरषों के कारण उन्नत, संसार में अपनी जड़
जमा चुबनेवाले, नम्रता-सहित मृदु स्थिति को धारण करनेवाले पर्वत की ऊँची
चोटी के समान उस कुल की रविकीर्ति ने सूर्य के समान अपने ऐश्वर्य से आलोकित
कर दिया ॥ १३ ॥

विभ्रता शुभ्रमभ्रगि स्नानं वनोचितं मत्तम् ।

न विमवादिता येन वग्गवति कुलीनता ॥ १४ ॥

समुत्पन्न, हृद, स्मृति-प्रतिपादित और सिद्धों के अनुकूल पदवि को करने-
वाले उस (रविकीर्ति) ने अस्मिता में भी अपनी कुल-वर्षाद को उन्मिष्ट नहीं
होने दिया ॥ १४ ॥

धुनधोदीधितिध्वान्तात् हविर्भुज इराध्वरान् ।

नानुगुप्ता तन साध्वी तन्यांसीनजीजनत् ॥ १५ ॥

रविकीर्ति से उसकी साध्वी पत्नी मातृ-पुत्र ने ऊर्ध्व से यज्ञ के समान,
अपनी ज्ञानरसि से अज्ञान के अन्धकार को दूर कर देनेवाले तीन पुत्रों को उत्पन्न
दिया ॥ १५ ॥

भगवद्दोष इत्यासीत् प्रथमः कार्यवत्तमम् ।

आलम्बनं बान्धवानामन्धकानामिवोद्धव ॥ १६ ॥

(उन दोनों में) "भगवद्दोष" बड़ा था । वह कार्य पद्धति में अन्धकों के लिये उद्धव के समान अपने बान्धवों का सहायक था ॥ १६ ॥

बहुनयविविधेषा गह्वरेऽप्यर्पमाणे

विदुर इव विदुर प्रेक्षया प्रेक्षमाणः ।

वचनरचनबन्धे सस्कृतप्राकृते यः

वचिभिरुदितराग गीयते गौरमिश्र ॥ १७ ॥

बहु नाना प्रकार के व्याख्यान में विषादा के समान था, गमौर अर्पणीति (आदि एव राजनीतिक विषयो) में भी प्रज्ञा के कारण विदुर के समान दूरदर्शी था । वचिभिरुदितराग अनुरागपूर्वक सस्कृत और प्राकृत वाक्यों के रचना-विधान में उसे कुशल मानते थे ॥ १७ ॥

प्रणिधिदृगनुगन्त्रा यस्य बौद्धेन चाङ्ग्या

न निशि ननु दवीयो वास्तपदृष्ट धरिभ्याम् ।

पद्मदयि दधानोज्ज्वलतर तस्य चाम्बू

स भयमभयदत्तो नाम चिन्वन् प्रजानाम् ॥ १८ ॥

उभय पक्ष को धारण करनेवाला तथा प्रजाओं के भय का भयन करते हुए उन्हें अमय देनेवाला 'अमयदत्त' नाम का दूसरा सबका था । जिस अमयदत्त को, गुणवरूपी नेत्र का अनुगमन करनेवाली, शत्रु-वृद्धि से पृथ्वी पर कोई सुख या दुःख नहीं रह सकती थी ॥ १८ ॥

विन्ध्यस्यावन्ध्यकर्मा शिखरतटपतन्याण्डुरेवाम्बुराशे-

गौलाङ्गूलैः सहेलं प्लुतिनमिनतरोः पारियात्रस्य चाद्रेः ।

आमिन्धोरन्तराल निजशुचिसचिवाध्यामिनानेकदेशात्

राजरूपानीयवृत्त्या सुरगुरुव यो वर्णिता भूतयेऽप्यात् ॥ १९ ॥

सराज कार्य करनेवाला वह, चोटियों से घिरते हुए नर्मदा के छेद जल-समूह से युक्त विन्ध्यपर्वत और सगुणों के ज्ञानपूर्वक उछल-कूद से भूके हुए पेड़-वाले "पारियात्र" पर्वत से लेकर "विन्ध्य" तक के अन्धवर्ती और अपने अपने मन्त्रियों से अधिकृत विभिन्न शक्तियों का, राजा के प्रतिनिधि के रूप में, वृहस्पति के समान, चारों ओर के जलपान के लिये पालनपोषण किया ॥ १९ ॥

विहितसकलवर्णसिद्धुरं शान्तडोम्बं

कृत इव कृतमेतद्येन राज्यं निराधि ।

स घुरमयमिदानीं दोषकुम्भस्य सूनु-

गुरुं वहति तद्रूढा धर्मतो धर्मदोषः ॥ २० ॥

जित धर्मदोष ने अपने राज्य में जातिगत साक्षर्य को दूर कर और विद्रोह को दान्त कर सत्ययुग की भाँति प्रजाजन की मानसिक व्यथा को दूर कर दिया है, "अमयदत्त" के अनुज "दोषकुम्भ" के सुपुत्र वह धर्मदोष, अमयदत्त के द्वारा टोपे गये राज्य-कार्य के गुरतर हुए जो धर्म-गुर-तर वहन कर रहा है ॥ २० ॥

स्वसुखमनतिवाञ्छन्दुर्गमेऽध्वन्यसङ्गा

धुरमतिगुरभारो यो दधद् भतुरप्ये ।

वहति नृपतिवेषं केवल लक्ष्ममायम्

वलिनमिव विलम्ब कम्बल बाहुलेयः ॥ २१ ॥

अपने सुख को उपेक्षा करके, बिना किसी की सहायता लिए, अपने स्वामी यद्योषर्मा के हितार्थ, गुप्तर राज्य-भार को दुरुह भार्य में भी वहन करता हुआ वह धर्मदोष "राजा" के वेष को नाममात्र से उसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार मारी और लटकते हुए गल-कम्बल को बँल ॥ २१ ॥

उपहितहितरक्षामण्डनो जातिरत्नै-

भुञ्ज इव पृथुलासस्तस्य दक्षः कनीयान् ।

महदिदमुदपानं खानयामास विभ्र-

च्छुनिहृदयमितान्तानन्दि निर्दोष नाम ॥ २२ ॥

विस्तृत वस्त्र स्पलवाले, और बहुमूल्य रत्नों से भूषणों के सहच; सर्व गये उत्तरदायित्व के संरक्षणरूप नृपनवाले, उसने (धर्मदोष के) कनिष्ठ भ्राता "दक्ष" ने वान और अन्तःकरण को क्षतिग्रस्त आनन्द प्रदान करनेवाले "निर्दोष" नाम के इस महाद् कुर्षे को सुदबाया ॥ २२ ॥

मुत्थात्रेयच्छायं परिणतिहितस्वादुफल्दं

गजेन्द्रेणाम्बुं द्रुम इव वृनान्तेन बन्धिना ।

पितृव्यं प्रोद्दिश्य त्रियममयदत्त पृथुधिया,

प्रयोयन्नेनेदं कुशलमिह कम्भोर्नचितम् ॥ २३ ॥

सुमपूर्वक सेवन करने योग्य छायावाले और परिपक्वता के कारण लाभदायक एवं स्वादुपूर्ण फलों को प्रदान करनेवाले वृक्ष की छोट गिरानेवाले गजराज के समान, कराल जाल से बवलित, अपने श्रद्धेय चाचा “अमरदत्त” की पुण्यस्मृति में बुद्धिमान् “दत्त” ने कृष्ण के इस विस्तृत और कलापूर्ण “जरात” (चबूतरे) को बनवाया ॥ २३ ॥

पञ्चमु शतेषु शरदा यातेष्वेकाश्वतिसहितेषु ।

मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु ॥ २४ ॥

समय परिज्ञान के लिए मालव सबन् की गणना के अनुसार ५८९ वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर— (यह कुशा बनवाया—२६ वें श्लोक से सम्बन्ध) ॥ २४ ॥

यस्मिन् काले कलमृदुगिरा कोकिलानां प्रलापा

मिन्दन्तीव स्मरशरनिभा प्रोपिनाना मनासि ।

मृङ्गालीना ध्वनिरनुवन भारमन्द्रश्च यस्मि-

न्नाधूनज्य धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेनो ॥ २५ ॥

जिस ऋतु में मन्मथ के सीरों के सहस्र कमनीय और रोमल-कच्ची कोपल को कूक बिरही जनो के अन्तस्तल में एक-दूसरे की पैदा कर देती है और मोरो का मदमस्त गुजन मदन के ईष्यकर्मित श्रृङ्गारवाले बनव की भाँति हर-एक वन में मुखरित होते हुए धुनिगोचर होते हैं (उस ऋतु में यह कुशा बनाया गया— श्लोक २६ से सम्बन्ध) ॥ २५ ॥

प्रियममकुपिनानां रामयन्त्रद्वारा

किमलममिव मुग्ध मानसं मानिनीनाम् ।

उपनयनि नमन्वान् मानभङ्गाय यस्मिन्

कुमुदममयमासे तत्र निर्मापिनोज्यम् ॥ २६ ॥

कुमुद-समृद्धि के जिस वसन्त में अपने प्रियजन से कूटी हुई मानिनी अङ्गनाओं के अनुरक्त और मोहिन मानस को, नूतन-यन्त्रव की भाँति, मुग्धुदाता हुआ मतमानिल, मान-भङ्ग के लिये उडेलित करता है, उस वसन्त में इस रूप का निर्माण कराया गया ॥ २६ ॥

यावत्तुङ्गैरदन्वान् किरणसमुदयं सङ्गकान्तं तरङ्गै-

रालङ्गभिन्दुबिम्ब गुरीभिर्विभुजैः संविधते सुहृताम् ।

विभ्रत्नोधान्तलेखावलयपरिगति मुण्डमालामित्राय

सत्पूषस्तावदास्नाममृतसमरसस्वच्छनिप्यन्दिताम्बु ॥२७॥

जब तब लम्बी मुजलताओं-सी ऊँची लहरों से, प्रस्तुटित चिरणों से समन्वित, और साहचर्य के कारण मनोरम लगनेवाले चन्द्र-बिम्ब का आलिङ्गन करता हुआ सागर अपनी मित्रता को प्रकट करता रहेगा, सब तक मुधासदृश, सुत्वादु, निर्मल, प्रवाहपूर्ण जल से युक्त, "जगत्" के तट पर निर्मित विविध वृत्ताकार परिधि को मुण्डमाला के समान धारण करनेवाला, यह रूप असुग, बना रहे ॥ २७ ॥

धीमान् दक्षो दक्षिण मयमन्धो ह्रीमाञ्छूरो वृद्धसेवी कृतनः ।

बद्धोत्माह स्वामिनायैप्पक्षेदी निर्दोषोऽय पातु धर्मं चिराय ॥ २८ ॥

विद्वान्, उदार, मयप्रती, लज्जाशील, धीर, गुरुजनो के सेवक, कृतज्ञ, उत्साह-सम्पन्न, स्वामी के बावों में आलस्यहीन और दोषरहित यह "दक्ष" दीर्घकाल पर्यन्त धर्म-रक्षा में नत्वर रहे ॥ २८ ॥

उत्कीर्णा गोविन्देन

इस प्रशस्ति को गोविन्द ने लिपि बद्ध किया ।

शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व

परिचय—इस अभिलेख को मालवा के शासक यशोधर्मन् के द्वारा राजस्थान के प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त "धर्मदोष" के भाई 'दक्ष' ने दशपुर में एक रूप बना कर उत्कीर्ण कराया । इस अभिलेख की खुदाई गोविन्द नामक किसी व्यक्ति ने की थी । इस अभिलेख से निम्नलिखित ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश पड़ता है ।

(१) मालव देश का जननायक शासक यशोधर्मन् था, जिसने हूणों को पराजित किया था ।

(२) उसने राजस्थान में प्रान्तीय शासक के रूप में अम्पदत्त को नियुक्त किया था ।

(३) यशोधर्मन् के बच का नाम जोलिकर था ।

(४) विष्णुधर्मन् उसका उपनाम था ।

(५) यशोधर्म के श्रान्तार्थ दासक अमरदत्त के पूर्व तथा परपुरुषों का संकेत मिलता है ।

(६) इस अभिलेख का लिपिक गोविन्द था ।

इस प्रसंग में यशोधर्म और उससे सम्बन्धित हर्ष-पराजय की चर्चा अवश्य है । ऐतिहासिक सूत्रों के आधार पर यह सर्वविदित है कि गुप्तकालीन भारत पर विदेशी हूणों और टर्कों का आक्रमण होता रहता था । साथ ही गुप्तों की साम्राज्यवादी शक्ति को सबसे अधिक अघात पहुँचानेवाली घटनाओं में हूणों का आक्रमण भी प्रधान कारण था ।

हूण एक शूरवीर, बलान्वित जाति के थे, जो मूलतः चीन के पड़ोसी माने जाते थे । वे अपने मूल जातिस्थान से निरग्न कर सारे पारस और अट्टागिन्दान को रौंदते हुए गुप्त-साम्राज्य के समस्त कुमारकुल के समय में पश्चिमी भाग पर आक्रमण किये थे । किन्तु स्कन्दगुप्त की सामरिक कुशलता के आगे इनकी एक भी नहीं बनी और वे वापस लौट गये । किन्तु वे धुन नहीं बँट गये, बल्कि कुछ दिनों के बाद पुनः ५वीं सदी ई० के अन्त में 'तोरमाण' के नेतृत्व में आ धमके । इस आक्रमण ने गुप्त-साम्राज्य का पीछ ही छोड़ डाला । तोरमाण की चर्चा कल्हण-कृत राजतरंगिणी में और अन्यत्र अभिलेखों में भी पाई जाती है । इन प्रमाणों के आधार पर पता लगता है कि तोरमाण ने गुप्त-साम्राज्य के बड़े-बड़े श्रान्तों का छीन लिया और अन्त में मध्यभारत तक अपनी मत्ता स्यान्वित कर ली । उत्तराखण्ड में हिन्दू बान्धवों ने हूणों के आक्रमण के सम्बन्ध में 'हर्यश्चरित' में भी संकेत मिलता है । तोरमाण के एरण अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मातृविष्णु का छोटा भाई अन्धविष्णु हर्ष-वर्धन का एक सामन्त था । तोरमाण के बाद उसका पुत्र मिहिरकुल हूणों का राजा हुआ । अनुश्रुतिर्मा के अनुसार वह हृदयहीन, क्रूर, अन्तर्गामी शासक था । गृहस्था ही उसके मनोरञ्जन की साधन थी । चीना यात्री युवानसाङ्ग के अनुसार उसने बौद्धों पर अत्याचार कर के उनके विहारों को ध्वस्त कर दिया और मगध के स्वामी बलादित्य पर आक्रमण कर दिया । किन्तु उसे मुँह की सानो पड़ी । अन्तर्गतत्वा करमोर में शरण लेकर वहाँ के राजा के साथ बन्धन कर के वहाँ का राजा बन बैठा । परन्तु अगले पाँच वर्षों के कलस्वप्न वह एक वर्ष के भीतर ही मर गया । यह बलादित्य "नरमिहगुप्त बलादित्य" न होकर बलादित्य नामधारी कोई दूसरा ही माधव का शासक था । इसी मिहिरकुल को पराजित करनेवाला

यशोधर्मन् था, जिसका सरेन इस अमिलेख में मिलता है। यद्यपि इस अमिलेख में तो मिहिरकुल का वर्णन नहीं है। किन्तु दक्षपुर में यशोधर्मन का भी एक विजय स्तम्भ है, जिसमें मिहिरकुल को पराजित करने की चर्चा आयी है :—

स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपगता प्रापिन नोत्तमर्द्धं

चूडापुष्पोपहारोमिहिरकुलनृपेणाचित पादयुग्मम् ।”

उसकी प्रशस्ति में यह कहा गया है कि यशोधर्मन् ने अपने राज्य की सीमाओं को लांघकर उन देशों की विजय की, जिन्हें गुप्तसम्राट् तक भी नहीं जीत सकते थे, और उसने ऐसे देशों पर भी आक्रमण किया जिसमें हूण तक भी नहीं प्रविष्ट हो सके थे। लोहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्र पर्वत तक तथा हिमालय से पश्चिमी सागर तक के सारे राजे उनकी अम्यर्चना करते थे। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध हूण राजा मिहिरकुल भी उसके चरणों को नमस्त्वंक हो छूटें थे। पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर यह प्रतीत होना है कि मिहिरकुल दो बार पराजित हुआ था। एक बार तो मगध में बालादित्य के द्वारा और दूसरी बार मध्यभारत में यशोधर्मन् के द्वारा। यशोधर्मन् के बारे में इन बातों का सबेन हमें उसके विजय-स्तम्भ से मिलता है। प्रस्तुत अमिलेख में मिहिरकुल और यशोधर्मन् के युद्ध का संकेत नहीं मिलता है। इसमें केवल “प्राची नृपान् सुबृहत्तश्च बहूनुदीचः” इस श्लोक से यह पता लगता है कि यशोधर्मन् ने पूरव के ५० बटे-बटे और उत्तर के बहूत से राजाओं को सन्धि और विषह से बच में करके लोक में प्रिय और दुर्लभ “राजाधिराज परम स्वामी” का दूसरा उपनाम प्राप्त किया था। उसके मुक्कबल से अजित पृथिवी पर अनेक देश सुख से अपना समय बिताते थे।

यशोधर्मन् जिस प्रकार अपनी शक्ति-सम्पन्नता को प्राप्त कर राजनीतिक क्षेत्र में सहसा इतना सफल हो सका, इससे बारे में इतिहास मौन है। उसकी उत्पत्ति, वंश आदि के बारे में कुछ भी निश्चित बातें मालूम नहीं होतीं। केवल इस अमिलेख में उसके कुल का इतना संकेत मिलता है कि उसके कुल का नाम “ओलिकर” था। किन्तु उस वंश का वर्णन नहीं मिलता है। अमिलेख के पाँचवें श्लोक में उसे “जनेन्द्र” (जननायक) कहा गया है। इस शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि यद्यपि इसकी उत्पत्ति किसी राजवंश में नहीं हुई थी, फिर भी हूणों के विनाश करने में इसने अपनी मुक्कबलों के पराक्रम को दिखाया था। अतः उसी पराक्रम के प्रभाव से राज्यपद को प्राप्त कर धनता का प्रिय

शासक बन गया था। उनकी विजय-प्रगति और इस कूप-लेख के आधार पर यह बात होता है कि वह मालव का राजा था और उसकी राजधानी मन्दसौर (पश्चिमी मालवा) थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस काल का यह राजनीतिक दिग्दर्शन किया जा रहा है, उसमें यशोधर्मन का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु आवश्यक है कि इसके बच और व्यक्तित्व के विषय में इतिहासकार पर्याप्त सामग्री के अभाव में अब तक अपनी सखनी को सार्थक नहीं कर पाये हैं।

इस अभिलेख से यशोधर्मन के द्वारा प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त "अमयदत्त" और "दत्त" के कुल का परिचय मिलता है। इस अभिलेख के द्वारा "दत्त" के पट्टिदत्त नामक पूर्व पुरुष का भी संकेत मिलता है, जो यशोधर्मन के बगजो द्वारा नियुक्त राज-सेवक था। उस पट्टिदत्त की कुलीन भार्या से उसी के समान उन्नत, गौरवशाली इसका सुपुत्र "वराहदास" नाम से प्रसिद्ध हुआ। और वराहदास का तेजस्वी पुत्र 'रविकीर्ति' हुआ, जिसने अपने कुल के गौरव को बढ़ाया। उस रविकीर्ति की सखी भार्या भानुगुप्ता के गर्भ से तीन पुत्ररत्न उत्पन्न हुए, जिनका नाम—भगवद्दोष, अमयदत्त और दोषकुम्भ था। यही अमयदत्त यशोधर्मन द्वारा पश्चिम देश में राजस्थान का प्रान्तीय शासक नियुक्त हुआ था। उसके बाद उसके छोटे भाई दोषकुम्भ का पुत्र धर्मदोष ने अमयदत्त के कार्यभार को ग्रहण किया और उसी धर्मदोष के छोटे भाई "दत्त" ने दगपुर में एक कूप का निर्माण करवाया। उन्हीं कूप में यह अभिलेख राजा की आज्ञा से गोविन्द ने उत्कीर्ण किया। वहीं पर यह अभिलेख लिपिबद्ध है। कूप पर उत्कीर्ण होने के कारण ही इसे 'कूप-लेख' कहते हैं।

अभिलेख का साहित्यिक वैशिष्ट्य

साहित्यिक विवेचना की दृष्टि से इस अभिलेख में हमें अनेक चमत्कार देखने को मिलते हैं। विशेषकर ये चमत्कार छन्द-योजना और अलंकार-प्रयोग में दीप्त पड़ते हैं। जहाँ तक इस अभिलेख के विषय का विवेचन है, उसका स्वीकरण इसके ऐतिहासिक महत्त्व के प्रसंग में लगभग हो चुका है। हाँ! साहित्यिक दृष्टि से हम इसके विषयगत वैशिष्ट्य का भी यदि इस प्रकार विवेचन करें तो वह अनासक्तिक न होकर पाठकों के लिये खिन्न ही सिद्ध होगा। संस्कृत-साहित्य की "आदौ मगलं विधेयम्" इस परंपरा के अनुसार कवि ने इस प्रशस्ति का प्रारम्भ मन्वाद्य ऋषि की सुन्दर वन्दना से किया है।

उसके बाद कवि अभिलेख के दिषय की ओर अपना कदम उठाकर कूप और तन्वालीन जननायक यशोधर्मा की प्रशंसापरक स्तुति करता है। तदनन्तर इस वर्य ॥ राज्य करनेवाले राजाओं की छत्रछाया ने शासन करने वाले षष्टिदत्त और उसके वरजो का चरित्रचित्रण समास-पद्धति से किया गया है। इसी प्रसंग में षष्टिदत्त के वरज शासक 'दत्त' के द्वारा अपने चाचा 'अभयदत्त' की स्मृति में कूप निर्माण-कार्य का संकेत भी किया गया है। इस कूप का निर्माण-कार्य भाल्लव सबर् ५८९ मे वसन्त ऋतु में सम्पन्न हुआ था, जिसका उल्लेख प्रशस्ति के अन्तिम भाग में किया गया है। अन्त में कवि कूप और उसके निर्माण दत्त के दीर्घजीवी होने की कामना के साथ अपनी इस प्रशस्ति को समाप्त कर देता है।

इस छोटे से अभिलेख में कवि ने बहुत अधिक छन्दों का प्रयोग कर अपनी विविध-छन्द-प्रियता और उसमें सफलतापूर्वक काव्य निर्माण-बौद्धि का एक साथ परिचय दिया है। इस लघु-काव्य-कलेवर में ही कवि ने लगभग १२ छन्दों की योजना की है। अब हम पूरी प्रशस्ति में आये छन्दों की एक मोटी सूची के माध्यम से यह देखेंगे कि कवि ने किस प्रकार सब प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों के प्रयोग में अपनी काव्यकला का परिचय दिया है। कवि ने अन्य छन्दों की अपेक्षा मालिनी का सर्वाधिक उपयोग किया है देखिये—इस छन्द का प्रयोग श्लोक सख्या—३, ५, ११, १३, १७, १८, २०, २१, २२, २६ में किया गया है। इस तरह पूरी प्रशस्ति के एक तिहाई अंश में इसका प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार श्लोक सख्या १ में पुष्पिताया, श्लोक सख्या ४ में उपजाति, श्लोक सख्या १० में इन्द्रवज्रा, श्लोक सख्या २५ में मन्दाशान्ता, श्लोक सख्या ९ में पार्श्वलविहीनित, श्लोक सख्या २८ में शालिनी जैसे छन्दों का भी प्रयोग एकाकी रूप में किया गया है। इसी तरह श्लोक सख्या ६, ७ में वसन्ततिलका और सख्या २, २३ में शिखरिणी का प्रयोग मिलता है। श्लोक सख्या ८, १९ और २७ में हम सङ्घरा जैसे लम्बे छन्द का भी दर्शन करते हैं। श्लोक सख्या २४ में हमे आर्या और श्लोक सख्या १४ और १५ में अनुष्टुप् की झलक भी मिल जाती है। छन्द प्रयोग के उपर्युक्त सिद्धान्तोक्तन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि आर्या और अनुष्टुप् जैसे लघु-छन्दों के प्रयोग के साथ ही मालिनी, वसन्ततिलका और पुष्पिताया जैसे नौमठ प्रवाहपूर्ण छन्दों में अपना

मन रमाता हुआ धार्द्र्यलविहीन, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी और स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों का उपयोग भी बनायास ही कर बैठता है। इस प्रकार हम कवि की इन छन्द-चौकड़ी की उपमा हिरण्य-चौकड़ी से दे सकते हैं जो क्षण-प्रतिक्षण अपने में नमीनता लाकर भावुकों के मन को हजार मोह लेती है।

जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है उसमें कवि ने शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा वर्णालंकारों में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। सम्पूर्ण अविनेत में उपमा-लकार छा-सा गया है। अन्य सभी अलंकार इस अलंकार-सम्राट् की ही अर्चना-वन्दना में व्यस्त-मे नजर आते हैं। उपमा के अतिरिक्त अन्य किसी भी अलंकार का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं के बराबर है। मंगल-श्लोक में ही कवि ने उपमा की अनुपम छटा दिखा दी है। स्थान-स्थान पर उपमा में रूपक और उत्प्रेक्षा के पुट से इस अलंकार का विलास और भी निखर उठता है। समिलेस में अलंकार-भोजना के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि कवि ने उपमा-लकार का प्रयोग १, ११, १३, १९, २१ और २३ सव्यक श्लोकों में किया है और रूपक मिथित उपमा का प्रयोग ५ और १५ सव्यक श्लोक में किया है। अनुप्रास और समक मिथित उपमा का प्रयोग श्लोक सं० १७, २० और २२ में मिलता है। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि ने उत्प्रेक्षा-मिथित उपमा का सुन्दर प्रयोग किया है। देखिये—२५ वें श्लोक में—“स्मरयार निभाः कोकिलानां प्रलापा, प्रोषिताना मनासि भिन्दन्ति इव” इस उक्ति के द्वारा और ‘भृङ्गालीनां ध्वनिः पुष्पकेतो, आप्नुतम्य धनुरिव’ के द्वारा उपमा की मनोरम छटा बीज पड़ती है। यहाँ पर कोकिल-प्रलाप की उपमा कामदेव के बार्मों से दी गयी है और वह कोकिल प्रलाप परदेष्टियों के मन को मानो छेद रहा है। इसी प्रकार भौरों की मधुर संधार कामदेव के धनुष की टकार की भाँति समस्त वन प्रदेश में गूँज रही है। इसी प्रकार प्रिय पाठक-गम पूर्वोक्त श्लोकों में उपरि-निर्दिष्ट अलंकारों का दर्शन-विवेचन स्वयं कर सकते हैं। स्वल्प शब्दों में ही वसन्त जैसे कमनीय और भादक ऋतु का वर्णन कवि के वर्णन-सौन्दर्य का अनुपम निदर्शन है। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि अत्यन्त सावधानी से काव्यकला का प्रयोग करता नजर आता है क्योंकि दो ही श्लोक में उसने वसन्त के समस्त वैभव को नाप कर गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। वर्णन सौष्टव के साथ ही कवि की पद शब्दा भी उन्नत कोटि की हैं। रस और भाव के अनुद्भूत शब्द-ध्वनि कवि की भावुकता की प्रकट करती हैं। नायक और उल्लेखित, दिग्देष्टा की

इसलिये मुन्दर है कि काव्य में आद्योपान्त प्रवाह बना है । किन्तु इस प्रवाह में केवल एक ही खटकनेवाली बात है और वह है छन्द-वैविध्य । मेरे विचार से यदि एक या दो छन्दों का ही आश्रय लिया जाता तो काव्य प्रवाह की विच्छिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता । दोष दृष्टि से केवल यह कहा जा सकता है कि यदि स्थानविशेष पर पुनर्गति दोष से अपने को नहीं बचा पाया है क्योंकि प्रायः एकार्यक शब्दों का प्रयोग केवल पाद पूर्ति के लिए कर दिया गया है । रीति की दृष्टि से प्रधानतया काव्य का प्रतिनिधित्व वैदर्भी रीति ही करती है । भाषा की दृष्टि से यद्यपि परिचित, सुबोध और असमस्त शब्दों का ही प्रयोग बहुतायत से किया गया है फिर भी कहीं-कहीं सम्बन्ध समास और दुरुह कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है । समस्त पदों का प्रयोग श्लो० स० ९ और २६ में मिलता है । पूर्वोक्त आलोचना से हमें यह प्रतीत होता है कि जहाँ पर कवि एक ओर अपने भावपक्ष को प्रकट करता है वहीं पर दूसरी ओर अपने कलापक्ष को प्रकट करने के लोभ का सवरण नहीं कर पाता है । फिर भी यह प्रचलित किसी प्रारम्भिक कवि की नहीं बल्कि किसी सहृदय काव्यकला-भक्त की ही है ।

टिप्पणी

जनेन्द्र—इसका अर्थ जन-नेता होता है । इन शब्दों से यह ध्वनित होता है कि यद्योषधम् की उत्पत्ति किसी राजकुल में तो नहीं हुई थी किन्तु हूणों के विनाशक होने के कारण और अपन पराक्रम और राजकीय गुणों के कारण वह राज्यसिंहासन प्राप्त करके जनता का प्रिय पात्र हो गया था ।

प्रमदवनम्—जहाँ पर राजा अपनी रानियों के साथ बिहार करता है उस उद्यान को प्रमदवन कहते हैं ।

ओलिकर—इस शब्द का अर्थ यद्यपि स्पष्ट नहीं है फिर भी यद्योषधम् के वंश का “ओलिकर” यह प्राकृत नाम समझा जाता है पत्नीट महोदय के अनुसार “ओलि” का अर्थ ‘उष्ण’ अथवा ‘घीत’ और ‘कर’ का अर्थ ‘किरण’ है । उनका संकेत संभवतः सूर्य अथवा चन्द्र वर की ओर है ।

भानुगुप्ता :—पत्नीट महोदय के अनुसार “भानुगुप्ता” संभवतः गुप्त सम्राट् ‘भानुगुप्त’ की बहन थी । इससे यह संकेत मिलता है कि उन दिनों में ब्राह्मण स्त्रिय कन्या से भी विवाह करते थे ।

राजन्यानीयवृत्त्या—“राजन्यानीय” शब्द का अर्थ “सैन्य” के “लोक-
नाय” में प्रजापालनाय “उद्भृति रक्षति च स राजस्थानीय” यर्थात् जो
प्रजा का रक्षक और आश्रयदाता है, उसे राजस्थानीय अर्थात् वायसराय
Viceroy कहते हैं। किन्तु कभी-कभी अभिनेत्रों में यह शब्द राज्य के सामान्य
अधिकारी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

इसमें यह प्रतीत होता है कि ‘अभयदत्त’ ‘यशोधर्म’ के साम्राज्यान्तर्गत
पश्चिमी प्रांतों का वायसराय था और दक्षिण उसको राजधानी थी।

निर्दोष नाम —कुछ लोग ‘निर्दोष’ शब्द को ‘उदयान’ का विरोधन बताते
हैं तो कुछ लोग इसे अतिशयोक्ति मानते हैं। हमारे विचार से प्रथम मत सपादेय है।



(५) विप्रहराजस्य (वीसलदेवोपनामकस्य)

देहली-स्तम्भलेखः (वि० सं० १२२०)

ओं ॥ संवत् १२२० वैशाख शुक्ल ॥ १५ ॥

शाकम्भरोत्पत्तिश्रीमदाविन्ददेवतामजश्रीमद्वीसलदेवम् ॥

॥ ओं कम्भो नाम रिपुप्रियतनयस्यो प्रसिद्धिदानकरं
प्रत्यक्षानि कृणानि, वैभवंनित्यकामं यन्मादिशम् ॥

मार्गो लोकविरुद्ध एव विजय शून्य मनो विद्विषाम्
श्रीमद्विष्णुदेव । नमस्तु त्राते प्रणामोत्तमम् ॥ १ ॥

ओम् ॥ संवत् १२२० वैशाख शुक्ल ॥ १५ ॥

शाकम्भरी (कम्भर) के राजा श्रीमान् कविलदेव के पुत्र श्रीमान् वीसलदेव
का (कविलेख) ।

हे श्रीमान् विष्णुदेव ! जब बात अपनी दिव्यप्राप्ति करने है तो रिपु-
सत्तारों की बाँझों में बाँझ और दुष्टों के शत्रुओं को दूर दिखाने से है । और
वैभव के कारण अपनी बाँझ सन्तानों में फैल गयी है । अपनी विष्णु-
प्राप्ति में केवल कम्भार का मार्ग ही नहीं बलितु दुष्टों का मन भी दूर हो
जाता है । [कम्भार-दय के विरुद्ध और दुष्ट मन के दूर होने का कारण यह
है कि विष्णु प्राप्ति के प्रयत्न में अपनी सेवा, भक्त और पराक्रम के माध्यम से
सन्तान प्रत्यक्ष-दयों में प्राप्त होकर भी वह वैभव कम्भार के मार्ग में प्रयत्न नहीं
होता, वह सदा विष्णु प्राप्ति का पालन करता है । कम्भार इसके प्रचार में कोई
भी व्यक्ति कम्भार मार्ग पर पैर नहीं रखता, जिससे वह पद स्वयं प्रयत्न
ही जाता है । इसकी दिव्यप्राप्ति करने पर शत्रु वर्जित हो जाता है ।] ॥ १ ॥

लीलामन्दिर सोदरेषु भवन्तु म्दान्तेषु वान्मनुष्याम्

गङ्गायां तु न विप्रहसितवित्तं न्यायोऽत्र वान्मनुष्यम् ।

शुद्धा वा पुराणोक्तान्य नदतो नाम्नेषु वारा निरे-

निन्याप्यतस्मिन् किन्तु नदाम्कोटे न निद्रापितः ॥ २ ॥

हे लोलानिरेतन त्रिहाराज ! रमणियों के सजातीय मानस-मन्दिर में आपका निवास है किन्तु आपके सङ्ग का नहीं । हे राजन् ! रमणियों के सजातीय हृदय में आपका निवास ठबिन हा है इसमें शका का अवसर नहीं । क्योंकि शका आने विष्णु भगवान् के समान समुद्र-मन्थन से उत्पन्न लदमो की गोद में पालन नहीं किया है ?

(भाव यह है कि राजा ने विष्णु भगवान् के समान ही शत्रुहारी समुद्र को मथकर विषय लक्ष्मी को प्राप्त किया है ।) ॥ २ ॥

॥ ओ ॥

आविन्यादाहिमाद्वैरचितविजयन्तोयंयात्राप्रसङ्गा-
दुद्गोषेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमकन्धरेषु प्रसन्नः ।
आर्षावर्तं यदायं पुनरपि कृतवान्मलेच्छविच्छेदनाभि-
द्वेष्टाकम्भरौन्ध्रो जगति विजयने वीरलक्षोणिपाल ॥ ३ ॥

कोम् ॥ जनने शौर्ययात्रा के प्रसङ्ग में ही विष्णुचल से निकर हिमालय पर्वत तक के प्रदेश को जीत लिया है, और उन प्रदेशों में स्थिर रहनेवाले राजाओं को नवमस्तक कर दिया है तथा आनन-मस्तक राजाओं पर अपनी प्रसन्नता को प्रकट किया है, जिसने प्लेच्छों का समूह नाश करके आर्यावर्त देश को पुन 'आर्यों का देश' इस नाम से सार्वक बनाया है वह साम्हर का स्वामी राजा श्रीमन्देव विजयो हो ॥ ३ ॥

घूने मशनि चाहमानतिलक. शाकम्भरोभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विद्यया मन्तानजानात्मनः ।
अस्माभि करद श्यायि हिनवद्विष्यान्तरालं भुवः
शेरस्वोकरणाय माञ्जु भवनामुद्योगजन्य मनः ॥ ४ ॥

चौहान कुलभूषण साम्भर के विजयी राजा विग्रहपति अब अपने कुलधुरी
 ने कहने हैं कि हमने हिमालय से लेकर विन्ध्यापर्वत के मध्यवर्ती प्रदेशों को कर
 देने के लिये माघ्य कर दिया है (अपने अधीन कर लिया है)। अब अवशिष्ट
 पंजाब आदि प्रान्तों को अपने अधिकार में करने में तुम लोगो का मन दृढोप-
 शान्त नहीं हो ॥ ४ ॥

सबन् श्रीविक्रमादिन्ये १२२० वैशाख शुनि १५ गुरौ ॥

लिखितमिदं राजाऽऽदेशात् ज्योतिषिकश्रीतिलकराजप्रत्यक्ष गौडान्वय-
कायस्थमाहवपुत्रं शोपतिना । अत्र समये महामन्त्री राजपुत्रश्रीसन्त-
क्षणपालः ॥

विक्रम संवत् १२२० वैशाख शुक्ल की पूर्णिमा त्रिंश एव गुरुवार ।

राजा विग्रहराज के आदेश से “श्री तिलकराज” नाम के ज्योतिषी जी के
समक्ष “गौड” वर में उत्पन्न कामस्य माहव के पुत्र ने इस लेख की लिपि की ।
इन दोनों में राजकुमार “श्री सन्तक्षणपाल” महामन्त्री थे ॥

स्तम्भलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

परिचय —दिल्ली के चौहानवशी राजा विग्रहराज (बांसलदेव) ने
हिमालय की उपत्यका में विद्यमान मौर्यसम्राट् अशोक के एक स्तम्भ पर इस
अभिलेख को उत्कीर्ण करवाया था । उस स्तम्भ की बाद में विक्रम की १५ वीं
शताब्दी में दिल्ली के तुल्कालीन मयन शासक फिरोजशाह ने वहाँ से मँगवा लिया,
जो आज भी “फिरोजशाह का कोटला” इस नाम से प्रसिद्ध स्थान में विद्यमान
है । उसी स्तम्भ पर यह अभिलेख अशोक के चर्मोपदेश के नीचे उत्कीर्ण है ।
इस अभिलेख के चार दशकों में विग्रहराज की बीरता, उसकी मर्यादाति और
राम्यसीमा का वर्णन किया गया है । इस छोटे से अभिलेख की छाया में हम
भारतवर्ष के एक महत्त्वपूर्ण शासक ज्ञानि के इतिहास की झलक पान का प्रयास
कर सकते हैं और वह ज्ञाति है जन्तिम हिन्दूसम्राट् हर्षवर्धन के बाद उत्तर
भारत में राज्य करनेवाला राजपूत वंश । अभिलेख के चौहानवशी राजा का
सम्बन्ध इन्हीं राजपूत वंश से स्थापित किया जाता है । अब हम पहले में
अभिलेख के नायक राजा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में राजपूत वंश का
चिह्नवलोकन इस प्रकार कर सकते हैं :—

राजपूत—सम्राट् हर्षवर्धन की जीवन-सीता जब भारतवर्ष के राजाग्रहाशन
रूपी रंगमंच की मूनी कर गई तो उसके योग्य अधिपति के अभाव में
यहाँ की राजनीतिक एकता विच्छिन्न हो गयी । सगलित साम्राज्य टुकड़ों में
बँटने लगा और कुछ मनचले सामन्त अपना घिर ठठारर पास-पड़ोस के गज्यों
की ओर अपनी लोह्म दृष्टि से ताक झाँक करने लगे । इसी विशृङ्खल राजनीतिक
परिस्थिति में नये राजवंशों की स्थापना हुई, जो सामूहिक रूप में राजपूत
कहलाये । इसीलिये यह युग भारतीय इतिहास में ‘राजपूत-युग’ के नाम से

प्रसिद्ध है। इस युग का इस देश के इतिहास में न केवल राजनीतिक दृष्टि से अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी अपना विशेष महत्त्व है। एकच्छन्न साम्राज्य के अभाव में देश की राजनीतिक एकता के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी मुसलमानों के आक्रमणों में भारतीय स्वतन्त्रता, संस्कृति तथा धर्म की रक्षा राजपूतों ने अदम्य साहस से की थी।

राजपूत धौन ये — राजपूत शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से सर्व-प्रथम हर्ष की मृत्यु के बाद के काल में प्रारम्भ हुआ। यद्यपि राजपुत्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है और उसी का कृत्रिम शब्द 'राजपूत' है किन्तु इस शब्द के पहले प्रयोग नहीं होने के कारण कुछ ऐतिहासिकों ने इस जाति को एक विदेशी जाति मान लिया और इसके विकास का समय सातवीं सदी का उत्तरार्ध माना। उनके अनुसार राजपूत जाति, मध्य-एशिया से आये हुए एक सीथियन आदि मिश्र भिन्न जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई। इस मन के प्रवर्तक हैं राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नेल "टाड" महोदय। उन्होंने पृथिवीराज रासो के अन्तिकुलवाले वर्णन से प्रभावित होकर भारत के राजपूतों में और मध्य-एशिया की एक तथा सीथियन जातियों में पर्याप्त सादृश्य की कल्पना कर यह सिद्ध किया कि गुप्तकाल के प्रारम्भ और उत्तर काल में भारत में आनेवाले एक, पल्लव, हूण, सीथियन आदि जातियाँ यहाँ आकर बस गयीं और यहाँ के हिन्दुओं के आचार-विचार और धर्म में घुलमिल गयीं। फलस्वरूप, हिन्दूधर्म में दीक्षित इन विदेशियों की एक नयी जाति बन गयी, जिसमें मध्य-एशिया में निवास करनेवाली पश्चिमी जातियों के मुद्रप्रियता आदि गुणों के साथ हिन्दू धर्म और सामाजिक मान्यताओं के प्रति उनकी निष्ठा तथा स्वाभिमान की बातें सम्मिलित हो गयीं। इन नये कुलों के प्रधान नायक अपनी उत्पत्ति प्राचीन हिन्दू देवताओं—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि से बनाने लगे। फलस्वरूप, हिन्दू पुरोहितों ने उन्हें हिन्दू-धर्म के सरलरूप के रूप में, सन्तियों के रूप में स्वीकार कर लिया और तब से वे लोग अपने को 'राजपूत' कहने लगे। इस प्रकार नये सन्तिय और राजपूत समानार्थक समझे जाने लगे और उत्तरी मैदानों के जिस भाग में मूलतः वे आकर बसे उसका नाम 'राजपुताना' पड़ गया।

किन्तु कुछ ऐसे भी तत्त्वपूर्ण तथ्य हैं, जिनके आधार पर अन्य विद्वानों ने इस पूर्वोक्त मान्यता का सन्देह किया है। इस मान्यता के विरुद्ध प्रधान आपत्ति तो यह है कि वस्तुतः यदि भारत की सम्पूर्ण सन्तिय जाति विदेशी है तो भारत

को प्राचीन क्षत्रिय जन्म क्या है ? क्या वह पूर्वज सुत हो गयी ? अगर वह सुत हो गई तो कब और कैसे ? ये प्रश्न ऐसे हैं जो राजपूत बंग के विषय में विदेशी धारणा का खण्डन कर कुछ नया सर्वमान्य इतिहास सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । इस भारतीय मन के प्रतिपादकों एवं समर्थकों ने राजपूताने के प्रामाणिक इतिहास-लेखक पण्डित गीरोधकर हींगचन्द्र भोजा का नाम उल्लेखनीय है । राजपूत का वास्तविक इतिहास इस प्रकार है . —

‘राजपूत’ शब्द संस्कृत के ‘राजपुत्र’ का रूपान्तर है । प्राचीनकाल में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किसी जाति-विशेष के होकर राजकुमारों अथवा राज-बहियों के लिये होता था । चूंकि प्राचीन भारत में अधिकांश क्षत्रिय राजाओं का ही शासन था, अतः सामान्य रूप से राजपुत्र शब्द क्षत्रिय राजकुमारों का ही सूचक था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्व से ही राजकुमारों के लिये ‘राजपुत्र’ ‘महाराजपुत्र’ आदि शब्दों का प्रचलन था । वास्तव में राजपूत शब्द का जातिविशेष अथवा वर्णविशेष के अर्थ में प्रयोग मुसलमानों के आगम में प्रविष्ट होने के बाद से हुआ । मुसलमानों के लगातार आक्रमण ने क्षत्रियों के राज्य समाप्तवाय हो गये । जो कुछ बचे भी थे उन्होंने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली और उनके सामन्त बन गये अथवा साधारण प्रजा की कौटि में आ मिले । राजवंश के होने के कारण भारतीय हिन्दू जनता इन्हें ‘राजपूत’ ही कहती थी । किन्तु मुसलमानों की ‘राजपूत’ उच्चारण में कठिनाई होती थी । अतः इन्हें वे सरलतापूर्वक ‘राजपूत’ ही कहने लगे । सभी से यह शब्द जातिविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ । संक्षेप में इस शब्द के इतिहास का यही रूप है ।

प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार भी राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की मूलान है जो अपने का चन्द्रवशी तथा सूर्यवशी मानते हैं । भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्यों की मूलतः दो प्रमुख शाखाएँ थी, जो क्रम से सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के नाम से विख्यात थी । बाद में एक तीसरी शाखा आग्निवंशी भी हो गयी । इन्हीं तीन वंशों में आर्य जाति का समावेश हो जाता था किन्तु राजनीतिक जीवन में क्षत्रिय वर्ण की प्रधानता के कारण इन वंशों की परम्परा साधारणतः क्षत्रिय वर्णों के साथ म्यारित हो गयी और क्षत्रियों के विभिन्न वंश मूलतः इन्हीं तीन वंशों के नाम से विख्यात हुए । कालान्तर में परिवार-विशेष के नाम पर अथवा उसके मुख्य व्यक्तियों के नाम पर

वशों की परम्परा चल पड़ी। हर्षवर्धन के बाद 'राजपूत' शब्द से समझे जानेवाले राजवशों का संबंध भी उन्होंने प्राचीन क्षत्रियवशों से है। हर्षवर्धन के बाद उत्तर भारत की राजनीति में तथा मुसलमानों ने टक्कर लेनेवाले राजवशों में निम्नलिखित वंश प्रमुख माने जाते हैं —

१—कन्नौज का गुर्जर प्रतिहार वंश।

२—कन्नौज का महदवार वंश।

३—बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश।

४—मासवा का परमार वंश, और

५—दिल्ली एवं अजमेर का चौहान वंश।

अभिषेक के विजयराज का सम्बन्ध इन्हीं राजपूत वंशों के चौहान वंश से है।

चौहान वंश — हम्मौर महाकाव्य तथा 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार चौहान 'चाहमान' नामक व्यक्ति के वंशज थे, जिनकी उत्पत्ति सूर्य से हुई थी। किन्तु चारणों के कथनानुसार चौहान अग्निकुल के थे और उनको उत्पत्ति 'आवू' पर्वत पर हुई थी। विदग्धा मान्यता चौहान को भी प्रविहारों की भाँति अग्नि से घुड़ की गयी विदेगी जाति ही मानती है। किन्तु कुछ विद्वान् चौहान की अग्निकुलवाली मान्यता की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि अन्य राजवशों के साथ चौहानों ने भी यही की अग्नि की साक्षी रखकर अरबों तथा तुर्कों के आक्रमण से देश की रक्षा करने की शपथ ली थी। अनन्व आधुनिक इतिहासवेत्ता चौहानों को भी प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं। भारतीय इतिहास में चौहान वंश का बहुत ही महत्त्व है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि शाकम्भरी अथवा साम्हर प्रदेश, जो जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमा पर विद्यमान है, इनका प्रधान केन्द्र या स्थान था। इस वंश की भी कई शाखाएँ थीं। परन्तु शाकम्भरी शाखा सर्वाधिक प्रसिद्ध मानी गयी है। इस वंश की स्थापना बामुदेव ने की थी, परन्तु उसके समय का निश्चयीकरण नहीं किया जा सकता। गुर्जर द्वितीय ने दिल्ली के तोमर राजा को परास्त कर उसकी हत्या कर दी। विजय संवत् १०३० अर्थात् ९७९ ई० का हर्ष प्रस्तर-लेख, चौहान वंश के इतिहास की प्रारम्भिक सीमा को मुख्य प्रथम तक बताता है जब कि साहित्यिक ग्रन्थों में इन वंश की तानिका बामुदेव तक देखी जाती है। चौहानों और तोमरों के युद्ध में चौहानों का विजय भी मिली थी दिल्ली का शासनपूरा उनके हाथों

मे आ गया। वाकनि प्रथम तथा मिहिराज इस वंश के पराक्रमी राजा थे। विग्रह-राज द्वितीय के समय तक चौहान राज्य प्रतिहार-राज्य के प्रभाव से मुक्त हो गया। उसने नर्मदा नदी तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा कर गुजरात के चालुक्य राजा मूलराज को पराजित किया। उसके बाद अजयराज ने मालवा के परमारवंशी राजा के सेनापति को पराजित कर अजमेर तक अपनी विजयपताका फहरायी। अजयराज ने अजमेर नगर की स्थापना की। चौहान अभिलेखों के अनुसार चौहानवंशी गोविन्दराज द्वितीय, अजयराज तथा अर्जोराज ने मुसलमानों को पराजित किया था। चौहान वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा विग्रहराज चतुर्थ (वीसलदेव) हुआ। इनने मुसलमानों से संघर्ष जारी रखा और मनुका तथा सतलज नदियों के बीच का प्रदेश मुसलमानों से छीन लिया।

अभिलेख के अन्तिम श्लोक में—“... अस्मानि करद व्यघायि हिम-बद्धिग्यान्तरालं भुव” इस उक्ति के द्वारा यह मान्य पड़ता है कि विग्रहराज ने हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच की सारी भूमि को अपने अधीन कर लिया था यद्यपि यह उक्ति अतिरिक्त प्रतीत होती है, फिर भी विश्वोलिया (मेवाड़) में मिले एक लेख से उनका दिल्ली को जीतना सिद्ध होता है। डाक्टर आर० एस्० त्रिपाठी के अनुसार संभवतः विग्रहराज ने दिल्ली को गहड़वाल राजा विजयचन्द्र से छीना था। विग्रहराज बड़ा ही वीर, धीर और सफल सैन्यसञ्चालक था। इसके साथ ही वह स्वयं प्रतिभाशाली कवि, ललित कला का उपासक और साहित्यिकों का संरक्षक भी था। महाकवि सोमदेव ने वीसलदेव के चरित्रों का चित्रण करने के लिये ‘ललित विग्रहराज’ की रचना की थी। इस प्रकार वह चौहानवंश का एक उन्माद्युक्त ही नहीं बल्कि उसके प्रभाव को विसृष्ट करनेवाला उन्माही राजा था। इस वंश के अन्तिम राजा ‘पृथिवीराज’ का उल्हास, देशप्रेम और वीरता भारतीय इतिहास में स्वर्णशरीरों में लिखी है, किन्तु आपसी मतभेद के कारण यवनों के हाथों इसके दुःख अवसान ने भी इतिहास के पृष्ठों को धूमिल-सा बना दिया है।

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

प्रश्नपत्राणि

(१)

यो वृत्त्यर्थमुपास्यते मुरगुणं सिद्धंश्च सिद्धयभिभिः-

ध्वनिकाप्रपरं विधेयविषयं भोक्ताभिभिर्योगिभिः ।

भक्त्या लोच्यरोषनेश्च मुनिभिः शापप्रसादसमै-

र्हेतुषो जगतः क्षयाम्बुदययोः पापान् स वो भोक्तरः ॥

अयं श्लोको यस्मान्छिलालेखादुद्धृतः स कस्य नृपते शासनकाले,
वस्मिन् प्रसङ्गे, कुत्र, केन कविना च रचित इति निरूपणीयम् ।...

अम्भो नाम रिपुश्रियानयनयो प्रत्यर्पिदन्तान्तरे,

प्रत्यक्षाणि तृणानि, वैभवमिलत्काष्ठ यशस्तावकेम् ।

मार्गो लोकविरुद्ध एव चित्रन शून्य मनीं विद्विषा,

श्रीमद्विषहराज देव । मरतः प्राप्ते प्रयाणोत्सुके ॥

पद्यमिदं व्याख्याय कोऽयं विषहराजः । न कदा कुत्र च येषु ? अयं लेखकः
कदा कुत्र कृतवोलेखिनः ?

(२)

(क) महारौलीलौहस्तम्भोत्कीर्णलेखस्य चन्द्रनृपते परिचयं प्रदाय पद्यमिदं
व्याख्येयम्—

यस्योद्भूतयतः प्रतीपमुरसा यन्तुं समेव्यामताम्,

बह्वेध्याहवर्षानिनोऽप्रमलिसिता सङ्गेन कीर्तिभुञ्जि ।

शीर्त्वा ससमुच्चानि येन समरे सिन्धोजिना बाह्विभू,

मस्याऽष्टाप्यधिवास्यते जननिधिर्वीर्यानिर्लदेक्षिणः ॥

(ख) यशोधर्मणः परिचयं देगकालनिर्देशपूर्वकं प्रदाय पद्यमिदं व्याख्याय-
ताम्—

स्निग्धस्यामाम्बुदाभेः स्पगितदिनहृतो मज्जनामाङ्गुधूमे-

रम्भोमेध्वं मधोनाश्रयिषु विदधता गाडसम्पन्नसत्त्वाः ।

दृष्ट्वाद्वात्तिनाना मरुभयहनाद्यानकुनापुराण
राजन्त्या गन्ते भुवविजितनुवा नुरया दन दद्या ॥

(३)

मन्त्रेण विष्णुतदावविन्दितस्तान्नाचलसहस्रविभूदिताया ।
तुष्टानेनैरमण्डवनवाया नूम पर तिलकभूतमिदं ब्रमण ॥
प्राचा नृपान् मृदृहृत्तथ चान्ताच सन्नायधा च वचान् प्रविधाय दन ।
नामापर जगति कान्तमदा दुराष गज्रापिराजकमर इयदुदम् ॥
ममङ्गु सर व्याख्यायतामन्तर कुत्रयथ म सत्त र्ति व सत्त ॥ १०

(४)

दिलालतनामादृष्टुनगस्सर व्याख्यायतामनोनिर्दिष्टलोकेषु द्वयम्— १०

(क) क्षित्त्यव विमृज्य ग नगपतर्माधितस्वतरा,
मूर्त्ता वमजितावनो त्वन वीर्त्ता म्भित्त्य मिती ।
शान्त्यव महावन हृतभुवो दम्य प्रतापा महान्
अद्याप्यमृजति प्रपाद्यितरपायलस्य यय भित्तिम् ॥

(ख) यद्वात्तमिरम्यसरिद्वयन चपलोमिणा समुद्रगुदम्
रहसि कुचालिनाम्या प्रीतिरतिम्या म्मराङ्गमिव ।

(ग) लालामन्दिरसारेषु मदतु स्वान्तेषु वामद्वयम्
यन्पान्नु न विप्रहृषितियते म्माप्योऽत्र वामन्तव ।
यद्यु वा पुरुषोत्तमस्य भवतो नास्त्यव वागानिध
श्रिमंभ्यापहृतश्रिय किमु मदन् द्वाड न निशपित ॥

(५)

दिलालतनामवृत्तिर्देशपूर्वक पद्यारम्भतरदिवाद व्याख्यायतान्— १०

(क) कान्तो युवा रत्नदुर्दिनयान्त्रिय, राजासि सन्नुनृतो न मरे स्मदाद्यै ।
शृङ्गारमूर्त्तिगमिमात्यनन्तुनोऽपि, सन् य शुमुमचाप इव द्वितीय ॥
(ख) हिमवत इव गाङ्गस्तुङ्गनम्र प्रवाह द्यनृन इव रेवावारिरादि प्रययान् ।
परमभिन्ननीय शुद्धिमनन्ववाया, मत उत्तिगरिम्प्रायत नैगमानाम् ॥

(६)

ऐतिहासिकविवरणमहित निम्नाङ्कित पद्यमक व्याख्ययम्— १०

मत्तमगण्डनविष्णुनागद्विन्दुमस्योऽन्तवत्तदुत्सृष्टिपुष्पाय, १
तुष्टावनमनस्मद्वतसकाया नूमे पर तिलकभूतमिदं ब्रमे ॥

(७)

नीचनिदिष्टलोको यच्छिलालेखस्थो तन्नामसमयादिक निदिश्य सप्रसङ्गं
व्याख्यायेताम्—

(क) राज्ञा मनोजवपव प्रयिनोर्वंशा वशानुरूपचरितामरणास्तयाऽप्ये ।

मन्यवना प्रणयिनामुपकारदशा विलम्बपूर्वमपरे दृढसौहृदाश्च ॥

(ख) विव्रितविषयसङ्गैर्धर्मशालंस्तयाऽन्यैः मृदुभिरधिनसत्त्वैर्लोकायात्राऽमरंश्च ।

स्वकुलनिलकभुतंमुंक्तगर्भद्वारैर्गणिकमभिविमाति श्रणिरेवं प्रकारैः ॥

अथवा—दृढदाम्न शिलालेखेन उच्चरित कीदृश प्रतिमासित भवतीति—

सक्षेपेण दशढादशपङ्क्तिभिर्विलिख्य निदिश्यताम् ।